तिरुक्कुरळ (तमिल से हिन्दी)

ध्यान : I prostrate before the Bhagwan and Guru Thiruvalluvar (तिरूवल्लूवर) to give Thirukkural (तिरुक्कूरळ) wonderful treasure to Humanity

भाग–१: धर्म- कांड

अध्याय 1. ईश्वर-स्तुति

1 अक्षर सबके आदि में, है अकार का स्थान । अखिल लोक का आदि तो, रहा आदि भगवान ॥
2 विद्योपार्जन भी भला, क्या आयेगा काम ।श्रीपद पर सत्याज्ञ के, यदि नहिं किया प्रणाम ॥
3 हृदय-पद्म-गत ईश के, पाद-पद्म जो पाय ।श्रेयस्कर वरलोक में, चिरजीवी रह जाय ॥
4 राग-द्वेष विहीन के, चरणाश्रित जो लोग ।दुःख न दे उनको कभी, भव-बाधा का रोग ॥
5 जो रहते हैं ईश के, सत्य भजन में लिप्त ।अज्ञानाश्रित कर्म दो, उनको करें न लिप्त ॥
6 पंचेन्द्रिय-निग्रह किये, प्रभु का किया विधान ।धर्म-पंथ के पथिक जो, हों चिर आयुष्मान ॥
7 ईश्वर उपमारहित का, नहीं पदाश्रय-युक्त ।तो निश्चय संभव नहीं, होना चिन्ता-मुक्त ॥
8 धर्म-सिन्धु करुणेश के, शरणागत है धन्य ।उसे छोड दुख-सिन्धु को, पार न पाये अन्य ॥
9 निष्क्रिय इन्द्रिय सदृश ही, 'सिर' है केवल नाम ।अष्टगुणी के चरण पर, यदि नहिं किया प्रणाम ॥
10 भव-सागर विस्तार से, पाते हैं निस्तार ।ईश-शरण बिन जीव तो, कर नहीं पाये पार ॥

अध्याय 2 . वर्षा- महत्व

11 उचित समय की वृष्टि से, जीवित है संसार ।मानी जाती है तभी, वृष्टि अमृत की धार ॥
12 आहारी को अति रुचिर, अन्नरूप आहार ।वृष्ति सृष्टि कर फिर स्वयं, बनती है आहार ॥
13 बादल-दल बरसे नहीं, यदि मौसम में चूक ।जलधि-घिरे भूलोक में, क्षुत से हो आति हूक ॥
14 कर्षक जन से खेत में, हल न चलाया जाय ।धन-वर्षा-संपति की, कम होती यदि आय ॥
15 वर्षा है ही आति प्रबल, सब को कर बरबाद ।फिर दुखियों का साथ दे, करे वही आबाद ॥
16 बिना हुए आकाश से, रिमझिम रिमझिम वृष्टि ।हरि भरी तृण नोक भी, आयेगी नहीं दृष्टि ॥
17 घटा घटा कर जलिध को, यदि न करे फिर दान ।विस्तृत बड़े समुद्र का, पानी उतरा जान ॥
18 देवाराधन नित्य का, उत्सव सहित अमंद ।वृष्टि न हो तो भूमि पर, हो जावेगा बंद ॥
19 इस विस्तृत संसार में, दान पुण्य तप कर्म ।यदि पानी बरसे नहीं, टिकें न दोनों कर्म ॥
20 नीर बिना भूलोक का, ज्यों न चले व्यापार ।कभी किसी में नहिं टिके, वर्षा बिन आचार ॥

अध्याय 3. सन्यासी- महिमा

21 सदाचार संपन्न जो, यदि यति हों वे श्रेष्ठ ।धर्मशास्त्र सब मानते, उनकी महिमा श्रेष्ठ ॥
22 यति-महिमा को आंकने, यदि हो कोई यत्न ।जग में मृत-जन-गणन सम, होता है वह यत्न ॥
23 जन्म-मोक्ष के ज्ञान से, ग्रहण किया सन्यास ।उनकी महिमा का बहुत, जग में रहा प्रकाश ॥
24 अंकुश से दृढ़ ज्ञान के, इन्द्रिय राखे आप ।ज्ञानी वह वर लोक का, बीज बनेगा आप ॥
25 जो है इन्द्रिय-निग्रही, उसकी शक्ति अथाह ।स्वर्गाधीश्वर इन्द्र ही, इसका रहा गवाह ॥
26 करते दुष्कर कर्म हैं, जो हैं साधु महान ।दुष्कर जो नहिं कर सके, अधम लोक वे जान ॥
27 स्पर्श रूप रस गन्ध औ', शब्द मिला कर पंच ।समझे इन्के तत्व जो, समझे वही प्रपंच ॥
28 भाषी वचन अमोध की, जो है महिमा सिद्ध ।गूढ़ मंत्र उनके कहे, जग में करें प्रसिद्ध ॥
29 सद्गुण रूपी अचल पर, जो हैं चढ़े सुजान ।उनके क्षण का क्रोध भी, सहना दुष्कर जान ॥
30 करते हैं सब जीव से, करुणामय व्यवहार ।कहलाते हैं तो तभी, साधु दया-आगार ॥

अध्याय 4. धर्म पर आग्रह

31 मोक्षप्रद तो धर्म है, धन दे वही अमेय ।उससे बढ़ कर जीव को, है क्या कोई श्रेय ॥
32 बढ़ कर कहीं सुधर्म से, अन्य न कुछ भी श्रेय ।भूला तो उससे बड़ा, और न कुछ अश्रेय ॥
33 यथाशक्ति करना सदा, धर्मयुक्त ही कर्म ।तन से मन से वचन से, सर्व रीती से धर्म।
34 मन का होना मल रहित, इतना ही है धर्म ।बाकी सब केवल रहे, ठाट-बाट के कर्म ॥
35 क्रोध लोभ फिर कटुवचन, और जलन ये चार ।इनसे बच कर जो हुआ, वही धर्म का सार ॥
36 'बाद करें मरते समय', सोच न यों, कर धर्म ।जान जाय जब छोड़ तन, चिर संगी है धर्म ॥
37 धर्म-कर्म के सुफल का, क्या चाहिये प्रमाण ।शिविकारूढ़, कहार के, अंतर से तू जान ॥
38 बिना गँवाए व्यर्थ दिन, खूब करो यदि धर्म ।जन्म-मार्ग को रोकता, शिलारूप वह धर्म ॥
39 धर्म-कर्म से जो हुआ, वही सही सुख-लाभ ।अन्य कर्म से सुख नहीं, न तो कीर्ति का लाभ ॥
40 करने योग्य मनुष्य के, धर्म-कर्म ही मान ।निन्दनीय जो कर्म हैं, वर्जनीय ही जान ॥

अध्याय 5. गार्हस्थ्य

41 धर्मशील जो आश्रमी, गृही छोड़ कर तीन ।स्थिर आश्रयदाता रहा, उनको गृही अदीन ॥

downloaded from www.pmlogy.com

42 उनका रक्षक है गृही, जो होते हैं दीन ।जो अनाथ हैं, और जो, मृतजन आश्रयहीन ॥
43 पितर देव फिर अतिथि जन, बन्धु स्वयं मिल पाँच ।इनके प्रति कर्तव्य का, भरण धर्म है साँच ॥
44 पापभीरु हो धन कमा, बाँट यथोचित अंश ।जो भोगे उस पुरुष का, नष्ट न होगा वंश ॥
45 प्रेम- युक्त गार्हस्थ्य हो, तथा धर्म से पूर्ण ।तो समझो वह धन्य है, तथा सुफल से पूर्ण ॥
46 धर्म मार्ग पर यदि गृही, चलायगा निज धर्म ।ग्रहण करे वह किसलिये, फिर अपराश्रम धर्म ॥
47 भरण गृहस्थी धर्म का, जो भी करे गृहस्थ ।साधकगण के मध्य वह, होता है अग्रस्थ ॥
48 अच्युत रह निज धर्म पर, सबको चला सुराह ।क्षमाशील गार्हस्थ्य है, तापस्य से अचाह ॥
49 जीवन ही गार्हस्थ्य का, कहलाता है धर्म ।अच्छा हो यदि वह बना, जन-निन्दा बिन धर्म ॥
50 इस जग में है जो गृही, धर्मनिष्ठ मतिमान ।देवगणों में स्वर्ग के, पावेगा सम्मान ॥

अध्याय 6. सहधर्मिणी

51 गृहिणी-गुण-गण प्राप्त कर, पुरुष-आय अनुसार ।जो गृह-व्यय करती वही, सहधर्मिणी सुचार ॥
52 गुण-गण गृहणी में न हो, गृहय-कर्म के अर्थ ।सुसंपन्न तो क्यों न हो, गृह-जीवन है व्यर्थ ॥
53 गृहिणी रही सुधर्मिणी, तो क्या रहा अभाव ।गृहिणी नहीं सुधर्मिणी, किसका नहीं अभाव ॥
54 स्त्री से बढ़ कर श्रेष्ठ ही, क्या है पाने योग्य ।यदि हो पातिव्रत्य की, दृढ़ता उसमें योग्य ॥
55 पूजे सती न देव को, पूज जगे निज कंत ।उसके कहने पर 'बरस', बरसे मेघ तुरंत ॥
56 रक्षा करे सतीत्व की, पोषण करती कांत ।गृह का यश भी जो रखे, स्त्री है वह अश्रांत ॥
57 परकोटा पहरा दिया, इनसे क्या हो रक्ष ।स्त्री हित पातिव्रत्य ही, होगा उत्तम रक्ष ॥
58 यदि पाती है नारियाँ, पति पूजा कर शान ।तो उनका सुरधाम में, होता है बहुमान ॥
59 जिसकी पत्नी को नहीं, घर के यश का मान ।नहिं निन्दक के सामने, गति शार्दूल समान ॥
60 गृह का जयमंगल कहें, गृहिणी की गुण-खान ।उनका सद्भूषण कहें, पाना सत्सन्तान ॥

अध्याय 7. संतान-लाभ

61 बुद्धिमान सन्तान से, बढ़ कर विभव सुयोग्य ।हम तो मानेंगे नहीं, हैं पाने के योग्य ॥
62 सात जन्म तक भी उसे, छू नहिं सकता ताप ।यदि पावे संतान जो, शीलवान निष्पाप ॥
63 निज संतान-सुकर्म से, स्वयं धन्य हों जान ।अपना अर्थ सुधी कहें, है अपनी संतान ॥
64 नन्हे निज संतान के, हाथ विलोड़ा भात ।देवों के भी अमृत का, स्वाद करेगा मात ॥
65 निज शिशु अंग-स्पर्श से, तन को है सुख-लाभ ।टूटी- फूटी बात से, श्रुति को है सुख-लाभ ॥
66 मुरली-नाद मधुर कहें, सुमधुर वीणा-गान ।तुतलाना संतान का, जो न सुना निज कान ॥
67 पिता करे उपकार यह, जिससे निज संतान ।पंडित-सभा-समाज में, पावे अग्रस्थान ॥
68 विद्यार्जन संतान का, अपने को दे तोष ।उससे बढ़ सब जगत को, देगा वह संतोष ॥
69 पुत्र जनन पर जो हुआ, उससे बढ़ आनन्द ।माँ को हो जब वह सुने, महापुरुष निज नन्द ॥
70 पुत्र पिता का यह करे, बदले में उपकार ।`धन्य धन्य इसके पिता', यही कहे संसार ॥

अध्याय 8. प्रेम-भाव

71 अर्गल है क्या जो रखे, प्रेमी उर में प्यार ।घोषण करती साफ़ ही, तुच्छ नयन-जल-धार ॥
72 प्रेम-शून्य जन स्वार्थरत, साधें सब निज काम ।प्रेमी अन्यों के लिये, त्यागें हड्डी-चाम ॥
73 सिद्ध हुआ प्रिय जीव का, जो तन से संयोग ।मिलन-यत्न-फल प्रेम से, कहते हैं बुध लोग ॥
74 मिलनसार के भाव को, जनन करेगा प्रेम ।वह मैत्री को जन्म दे, जो है उत्तम क्षेम ॥
75 इहलौकिक सुख भोगते, निश्रेयस का योग ।प्रेमपूर्ण गार्हस्थ्य का, फल मानें बुध लोग ॥
76 साथी केवल धर्म का, मानेंप्रेम, अजान ।त्राण करे वह प्रेम ही, अधर्म से भी जान ॥
77 कीड़े अस्थिविहीन को, झुलसेगा ज्यों धर्म ।प्राणी प्रेम विहीन को, भस्म करेगा धर्म ॥
78 नीरस तरु मरु भूमि पर, क्या हो किसलय-युक्त ।गृही जीव वैसा समझ, प्रेम-रहित मन-युक्त ॥
79 प्रेम देह में यदि नहीं, बन भातर का अंग ।क्या फल हो यदि पास हों, सब बाहर के अंग ॥
80 प्रेम-मार्ग पर जो चले, देह वही सप्राण ।चर्म-लपेटी अस्थि है, प्रेम-हीन की मान ॥

अध्याय 9. अतिथि-सत्कार

81 योग-क्षेम निबाह कर, चला रहा घर-बार ।आदर करके अतिथि का, करने को उपकार ॥
82 बाहर ठहरा अतिथि को, अन्दर बैठे आप ।देवामृत का क्यों न हो, भोजन करना पाप ॥
83 दिन दिन आये अतिथि का, करता जो सत्कार ।वह जीवन दारिद्रय का, बनता नहीं शिकार ॥
84 मुख प्रसन्न हो जो करे, योग्य अतिथि-सत्कार ।उसके घर में इन्दिरा, करती सदा बहार ॥
85 खिला पिला कर अतिथि को, अन्नशेष जो खाय ।ऐसों के भी खेत को, काहे बोया जाया ॥
86 प्राप्त अतिथि को पूज कर, और अतिथि को देख ।जो रहता, वह स्वर्ग का, अतिथि बनेगा नेक ॥
87 अतिथि-यज्ञ के सुफल की, महिमा का नहिं मान ।जितना अतिथि महान है, उतना ही वह मान ॥

downloaded from www.pmlogy.com

88 'कठिन यत्न से जो जुड़ा, सब धन हुआ समाप्त' ।यों रोवें, जिनको नहीं, अतिथि-यज्ञ-फल प्राप्त ॥
89 निर्धनता संपत्ति में, अतिथि-उपेक्षा जान ।मूर्ख जनों में मूर्ख यह, पायी जाती बान ॥
90 सूंघा 'अनिच्च' पुष्प को, तो वह मुरझा जाय ।मुँह फुला कर ताकते, सूख अतिथि-मुख जाय ॥

अध्याय 10. मधुर-भाषण

91 जो मूँह से तत्वज्ञ के, हो कर निर्गत शब्द ।प्रेम-सिक्त निष्कपट हैं, मधुर वचन वे शब्द ॥
92 मन प्रसन्न हो कर सही, करने से भी दान ।मुख प्रसन्न भाषी मधुर, होना उत्तम मान ॥
93 ले कर मुख में सौम्यता, देखा भर प्रिय भाव ।बिला हृद्गत मृदु वचन, यही धर्म का भाव ॥
94 दुख-वर्धक दारिद्र्य भी, छोड़ जायगा साथ ।सुख-वर्धक प्रिय वचन यदि, बोले सब के साथ ॥
95 मृदुभाषी होना तथा, नम्र-भाव से युक्त ।सच्चे भूषण मनुज के, अन्य नहीं है उक्त ॥
96 होगा ह्रास अधर्म का, सुधर्म का उत्थान ।चुन चुन कर यदि शुभ वचन, कहे मधुरता-सान ॥
97 मधुर शब्द संस्कारयुत, पर को कर वरदान ।वक्ता को नय-नीति दे, करता पुण्य प्रदान ॥
98 ओछापन से रहित जो, मीठा वचन प्रयोग ।लोक तथा परलोक में, देता है सुख-भोग ॥
99 मधुर वचन का मधुर फल, जो भोगे खुद आप ।कटुक वचन फिर क्यों कहे, जो देता संताप ॥
100 रहते सुमधुर वचन के, कटु कहने की बान ।यों ही पक्का छोड़ फल, कच्चा ग्रहण समान ॥

अध्याय 11. कृतज्ञता

101 उपकृत हुए बिना करे, यदि कोइ उपकार ।दे कर भू सुर-लोक भी, मुक्त न हो आभार ॥
102 अति संकट के समय पर, किया गया उपकार ।भू से अधिक महान है, यद्यपि अल्पाकार ॥
103 स्वार्थरहित कृत मदद का, यदि गुण आंका जाय ।उदधि-बड़ाई से बड़ा, वह गुण माना जाय ॥
104 उपकृति तिल भर ही हुई, तो भी उसे सुजान ।मानें ऊँचे ताड़ सम, सुफल इसी में जान ॥
105 सीमित नहिं, उपकार तक, प्रत्युपकार- प्रमाण ।जितनी उपकृत-योग्यता, उतना उसका मान ॥
106 निर्दोषों की मित्रता, कभी न जाना भूल ।आपद-बंधु स्नेह को, कभी न तजना भूल ॥
107 जिसने दुःख मिटा दिया, उसका स्नेह स्वभाव ।सात जन्म तक भी स्मरण, करते महानुभाव ॥
108 भला नहीं है भूलना, जो भी हो उपकार ।भला यही झट भूलना, कोई भी अपकार ॥
109 हत्या सम कोई करे, अगर बड़ी कुछ हानि ।उसकी इक उपकार-स्मृति, करे हानि की हानि ॥
110 जो भी पातक नर करें, संभव है उद्धार ।पर है नहीं कृतघ्न का, संभव ही निस्तार ॥

अध्याय 12. मध्यस्थता

111 मध्यस्थता यथेष्ट है, यदि हो यह संस्कार ।शत्रु मित्र औ' अन्य से, न्यायोचित व्यवहार ॥
112 न्यायनिष्ठ की संपदा, बिना हुए क्षयशील ।वंश वंश का वह रहे, अवलंबन स्थितिशील ॥
113 तजने से निष्पक्षता, जो धन मिले अनन्त ।भला, भले ही, वह करे तजना उसे तुरन्त ॥
114 कोई ईमान्दार है, अथवा बेईमान ।उन उनके अवशेष से, होती यह पहचान ॥
115 संपन्नता विपन्नता, इनका है न अभाव ।सज्जन का भूषण रहा, न्यायनिष्ठता भाव ॥
116 सर्वनाश मेरा हुआ, यों जाने निर्धार ।चूक न्याय-पथ यदि हुआ, मन में बुरा विचार ॥
117 न्यायवान धर्मिष्ठ की, निर्धनता अवलोक ।मानेगा नहिं हीनता, बुद्धिमान का लोक ॥
118 सम रेखा पर हो तुला, ज्यों तोले सामान ।भूषण महानुभाव का, पक्ष न लेना मान ॥
119 कहना सीधा वचन है, मध्यस्थता ज़रूर ।दृढ़ता से यदि हो गयी, चित्त-वक्रता दूर ॥
120 यदि रखते पर माल को, अपना माल समान ।वणिक करे वाणीज्य तो, वही सही तू जान ॥

अध्याय 13. संयम्शीलता

121 संयम देता मनुज को, अमर लोक का वास ।झोंक असंयम नरक में, करता सत्यानास ॥
122 संयम की रक्षा करो, निधि अनमोल समान ।श्रेय नहीं है जीव को, उससे अधिक महान ॥
123 कोई संयमशील हो, अगर जानकर तत्व ।संयम पा कर मान्यता, देगा उसे महत्व ॥
124 बिना टले निज धर्म से, जो हो संयमशील ।पर्वत से भी उच्चतर, होगा उसका डील ॥
125 संयम उत्तम वस्तु है, जन के लिये अशेष ।वह भी धनिकों में रहे, तो वह धन सुविशेष ॥
126 पंचेन्द्रिय-निग्राह किया, कछुआ सम इस जन्म ।तो उससे रक्षा सुदृढ़, होगी सातों जन्म ॥
127 चाहे औरोंको नहीं, रख लें वश में जीभ ।शब्द-दोष से हों दुखी, यदि न वशी हो जीभ ॥
128 एक बार भी कटुवचन, पहुँचाये यदि कष्ट ।सत्कर्मों के सुफल सब, हो जायेंगे नष्ट ॥
129 घाव लगा जो आग से, संभव है भर जाय ।चोट लगी यदि जीभ की, कभी न मोटी जाय ॥
130 क्रोध दमन कर जो हुआ, पंडित यमी समर्थ ।धर्म-देव भी जोहता, बाट भेंट के अर्थ ॥

अध्याय 14. आचारशीलता

131 सदाचार-संपन्नता, देती सब को श्रेय ।तब तो प्राणों से अधिक, रक्षणीय वह ज्ञेय ॥
132 सदाचार को यत्न से, रखना सहित विवेक ।अनुशीलन से पायगा, वही सहायक एक ॥

downloaded from www.pmlogy.com

133 सदाचार-संपन्नता, है कुलीनता जान ।चूके यदि आचार से, नीच जन्म है मान ॥
134 संभव है फिर अध्ययन, भूल गया यदि वेद ।आचारच्युत विप्र के, होगा कुल का छेद ॥
135 धन की ज्यों ईर्ष्यालु के, होती नहीं समृद्धि ।आचारहीन की नहीं, कुलीनता की वृद्धि ॥
136 सदाचार दुष्कर समझ, धीर न खींचे हाथ ।परिभव जो हो जान कर, उसकी च्युति के साथ ॥
137 सदाचार से ही रही, महा कीर्ति की प्राप्ति ।उसकी च्युति से तो रही, आति निन्दा की प्राप्ति ॥
138 सदाचार के बीज से, होता सुख उत्पन्न ।कदाचार से ही सदा, होता मनुज विपन्न ॥
139 सदाचारयुत लोग तो, मुख से कर भी भूल ।कहने को असमर्थ हैं, बुरे वचन प्रतिकूल ॥
140 जिनको लोकाचार की, अनुगति का नहिं ज्ञान ।ज्ञाता हों सब शास्त्र के, जानों उन्हें अजान ॥

अध्याय 15. परदार- विरति

141 परपत्नी-रति-मूढ़ता, है नहिं उनमें जान ।धर्म-अर्थ के शास्त्र का, जिनको तत्वज्ञान ॥
142 धर्म-भ्रष्टों में नही, ऐसा कोई मूढ़ ।जैसा अन्यद्वार पर, खड़ा रहा जो मूढ़ ॥
143 दृढ़ विश्वासी मित्र की, स्त्री से पापाचार ।जो करता वो मृतक से, भिन्न नहीं है, यार ॥
144 क्या होगा उसको अहो, रखते विभव अनेक ।यदि रति हो पर-दार में, तनिक न बुद्धि विवेक ॥
145 पर-पत्नी-रत जो हुआ, सुलभ समझ निश्शंक ।लगे रहे चिर काल तक, उसपर अमिट कलंक ॥
146 पाप, शत्रुता, और भय, निन्दा मिल कर चार ।ये उसको छोड़ें नहीं, जो करता व्यभिचार ॥
147 जो गृहस्थ पर-दार पर, होवे नहिं आसक्त ।माना जाता है वही, धर्म-कर्म अनुरक्त ॥
148 पर-नारी नहिं ताकना, है धीरता महान ।धर्म मात्र नहिं संत का, सदाचरण भी जान ॥
149 सागर-बलयित भूमि पर, कौन भोग्य के योग्य ।आलिंगन पर- नारि को, जो न करे वह योग्य ॥
150 पाप- कर्म चाहे करें, धर्म मार्ग को छोड़ ।पर-गृहिणी की विरति हो, तो वह गुण बेजोड़ ॥

अध्याय 16. क्षमाशीलता

151 क्षमा क्षमा कर ज्यों धरे, जो खोदेगा फोड़ ।निन्दक को करना क्षमा, है सुधर्म बेजोड़ ॥
152 अच्छा है सब काल में, सहना अत्याचार ।फिर तो उसको भूलना, उससे श्रेष्ठ विचार ॥
153 दारिद में दारिद्रय है, अतिथि-निवारण-बान ।सहन मूर्ख की मूर्खता, बल में भी बल जान ॥
154 अगर सर्व-गुण-पूर्णता, तुमको छोड़ न जाय ।क्षमा-भाव का आचरण, किया लगन से जाय ॥
155 प्रतिकारी को जगत तो, माने नहीं पदार्थ ।क्षमशील को वह रखे, स्वर्ण समान पदार्थ ॥
156 प्रतिकारी का हो मज़ा, एक दिवस में अन्त ।क्षमाशीला को कीर्ति है, लोक-अंत पर्यन्त ॥
157 यद्यपि कोई आपसे, करता अनुचित कर्म ।अच्छा उस पर कर दया, करना नहीं अधर्म ॥
158 अहंकार से ज़्यादती, यदि तेरे विपरीत ।करता कोई तो उसे, क्षमा-भाव से जीत ॥
159 संन्यासी से आधिक हैं, ऐसे गृही पवित्र ।सहन करें जो नीच के, कटुक वचन अपवित्र ॥
160 अनशन हो जो तप करें, यद्यपि साधु महान ।पर-कटुवचन-सहिष्णु के, पीछे पावें स्थान ॥

अध्याय 17. अनसूयता

161 जलन- रहित निज मन रहे ऐसी उत्तम बान ।अपनावें हर एक नर, धर्म आचरण मान ॥
162 सबसे ऐसा भाव हो, जो है ईर्ष्या- मुक्त ।तो उसके सम है नहीं, भाग्य श्रेष्ठता युक्त ॥
163 धर्म- अर्थ के लाभ की, जिसकी हैं नहीं चाह ।पर-समृद्धि से खुश न हो, करता है वह डाह ॥
164 पाप- कर्म से हानियाँ, जो होती है जान ।ईर्ष्यावश करते नहीं, पाप- कर्म धीमान ॥
165 शत्रु न भी हो ईर्ष्यु का, करने को कुछ हानि ।जलन मात्र पर्याप्त है, करने को अति हानि ॥
166 दान देख कर जो जले, उसे सहित परिवार ।रोटी कपडे को तरस, मिटते लगे न बार ॥
167 जलनेवाले से स्वयं, जल कर रमा अदीन ।अपनी ज्येष्ठा के उसे , करती वही अधीन ॥
168 ईर्ष्या जो है पापिनी, करके श्री का नाश ।नरक-अग्नि में झोंक कर, करती सत्यानास ॥
169 जब होती ईर्ष्यालु की, धन की वृद्धि अपार ।तथा हानि भी साधु की, तो करना सुविचार ॥
170 सुख-समृद्धि उनकी नहीं, जो हों ईर्ष्यायुक्त ।सुख-समृद्धि की इति नहीं, जो हों ईर्ष्यामुक्त ॥

अध्याय 18. निर्लोभता

171 न्याय-बुद्धि को छोड़ कर, यदि हो पर-धन-लोभ ।हो कर नाश कुटुम्ब का, होगा दोषारोप ॥
172 न्याय-पक्ष के त्याग से, जिनको होती लाज ।लोभित पर-धन-लाभ से, करते नहीं अकाज ॥
173 नश्वर सुख के लोभ में, वे न करें दुष्कृत्य ।जिनको इच्छा हो रही, पाने को सुख नित्य ॥
174 जो हैं इन्द्रियजित तथा, ज्ञानी भी अकलंक ।दारिदवश भी लालची, होते नहीं अशंक ॥
175 तीखे विस्तृत ज्ञान से, क्या होगा उपकार ।लालचवश सबसे करें, अनुचित व्यवहार ॥
176 ईश-कृपा की चाह से, जो न धर्म से भ्रष्ट ।दुष्ट-कर्म धन-लोभ से, सोचे तो वह नष्ट ॥
177 चाहो मत संपत्ति को, लालच से उत्पन्न ।उसका फल होता नहीं कभी सुगुण-संपन्न ॥
178 निज धन का क्षय हो नहीं, इसका क्या सदुपाय ।अन्यों की संपत्ति का, लोभ किया नहिं जाय ॥

downloaded from www.pmlogy.com

179 निर्लोभता ग्रहण करें, धर्म मान धीमान ।श्री पहुँचे उनके यहाँ, युक्त काल थल जान ॥
180 अविचारी के लोभ से, होगा उसका अन्त ।लोभ- हीनता- विभव से, होगी विजय अनन्त ॥

अध्याय 19. अपिशुनता

181 नाम न लेगा धर्म का, करे अधर्मिक काम । फिर भी अच्छा यदि वही, पाये अपिशुन नाम ॥
182 नास्तिवाद कर धर्म प्रति, करता पाप अखण्ड ।उससे बदतर पिशुनता, सम्मुख हँस पाखण्ड ॥
183 चुगली खा कर क्या जिया, चापलूस हो साथ ।भला, मृत्यु हो, तो लगे, शास्त्र- उक्त फल हाथ ॥
184 कोई मूँह पर ही कहे, यद्यपि निर्दय बात ।कहो पीठ पीछे नहीं, जो न सुचिंतित बात ॥
185 प्रवचन-लीन सुधर्म के, हृदय धर्म से हीन ।भण्डा इसका फोड़ दे, पैशुन्य ही मलीन ॥
186 परदूषक यदि तू बना, तुझमें हैं जो दोष ।उनमें चुन सबसे बुरे, वह करता है घोष ॥
187 जो करते नहिं मित्रता, मधुर वचन हँस बोल ।अलग करावें बन्धु को, परोक्ष में कटु बोल ॥
188 मित्रों के भी दोष का, घोषण जिनका धर्म ।जाने अन्यों के प्रति, क्या क्या करें कुकर्म ॥
189 क्षमाशीलता धर्म है, यों करके सुविचार ।क्या ढोती है भूमि भी, चुगलखोर का भार ॥
190 परछिद्रानवेषण सदृश, यदि देखे निज दोष ।ति अविनाशी जीव का, क्यों हो दुख से शोष ॥

अध्याय 20. वृथालाप-निषेध

191 बहु जन सुन करते घृणा, यों जो करे प्रलाप ।सर्व जनों का वह बने, उपहासास्पद आप ॥
192 बुद्धिमान जनवृन्द के,सम्मुख किया प्रलाप ।अप्रिय करनी मित्र प्रति, करने से अति पाप ॥
193 लम्बी-चौड़ी बात जो, होती अर्थ-विहीन ।घोषित करती है वही, वक्ता नीति-विहीन ॥
194 संस्कृत नहीं, निरर्थ हैं, सभा मध्य हैं उक्त ।करते ऐसे शब्द हैं, सुगुण व नीति-वियुक्त ॥
195 निष्फल शब्द अगर कहे, कोई चरित्रवान ।हो जावे उससे अलग, कीर्ति तथा सम्मान ॥
196 जिसको निष्फल शब्द में, रहती है आसक्ति ।कह ना तू उसको मनुज, कहना थोथा व्यक्ति ॥
197 कहें भले ही साधुजन, कहीं अनय के शब्द ।मगर इसी में है भला, कहें न निष्फल शब्द ॥
198 उत्तम फल की परख का, जिनमें होगा ज्ञान ।महा प्रयोजन रहित वच, बोलेंगे नहिं जान ॥
199 तत्वज्ञानी पुरुष जो, माया-भ्रम से मुक्त ।विस्मृति से भी ना कहें, वच जो अर्थ-वियुक्त ॥
200 कहना ऐसा शब्द ही, जिससे होवे लाभ ।कहना मत ऐसा वचन, जिससे कुछ नहिं लाभ ॥

अध्याय 21. पाप-भीरुता

201 पाप-कर्म के मोह से, डरें न पापी लोग ।उससे डरते हैं वही, पुण्य-पुरुष जो लोग ॥
202 पाप- कर्म दुखजनक हैं, यह है उनकी रीत ।पावक से भीषण समझ, सो होना भयभीत ॥
203 श्रेष्ठ बुद्धिमत्ता कहें, करके सुधी विचार ।अपने रिपु का भी कभी, नहिं करना अपकार ॥
204 विस्मृति से भी नर नहीं, सोचे पर की हानि ।यदि सोचे तो धर्म भी, सोचे उसकी हानि ॥
205 'निर्धन हूँ मैं', यों समझ, करे न कोई पाप ।अगर किया तो फिर मिले, निर्धनता-अभिशाप ॥
206 दुख से यदि दुष्कर्म के, बचने की है राय ।अन्यों के प्रति दुष्टता, कभी नहीं की जाय ॥
207 अति भयकारी शत्रु से, संभव है बच जाय ।पाप-कर्म की शत्रुता, पीछा किये सताय ॥
208 दुष्ट- कर्म जो भी करे, यों पायेगा नाश ।छोड़े बिन पौरों तले, छाँह करे ज्यों वास ॥
209 कोई अपने आपको, यदि करता है प्यार ।करे नहीं अत्यल्प भी, अन्यों का अपचार ॥
210 नाशरहित उसको समझ, जो तजकर सन्मार्ग ।पाप-कर्म हो नहिं करे, पकड़े नहीं कुमार्ग ॥

अध्याय 22. लोकोपकारिता

211 उपकारी नहिं चाहते, पाना प्रत्युपकार ।बादल को बदला भला, क्या देता संसार ॥
212 बहु प्रयत्न से जो जुड़ा, योग्य व्यक्ति के पास ।लोगों के उपकार हित, है वह सब धन-रास ॥
213 किया भाव निष्काम से, जनोपकार समान ।स्वर्ग तथा भू लोक में दुष्कर जान ॥
214 ज्ञाता शिष्टाचार का, है मनुष्य सप्राण ॥मृत लोगों में अन्य की, गिनती होती जान ॥
215 पानी भरा तड़ाग ज्यों, आवे जग का काम ।महा सुधी की संपदा, है जन-मन-सुख धाम ॥
216 शिष्ट जनों के पास यदि, आश्रित हो संपत्ति ।ग्राम-मध्य ज्यों वृक्षवर, पावे फल-संपत्ति ॥
217 चूके बिन ज्यों वृक्ष का, दवा बने हर अंग ।त्यों धन हो यदि वह रहे, उपकारी के संग ॥
218 सामाजिक कर्तव्य का, जिन सज्जन को ज्ञान ।उपकृति से नहिं चूकते, दारिदवश भी जान ॥
219 उपकारी को है नहीं, दरिद्रता की सोच ।'मैं कृतकृत्य नहीं हुआ' उसे यही संकोच ॥
220 लोकोपकारिता किये, यदि होगा ही नाश ।अपने को भी बेच कर, क्रय-लायक वह नाश ॥

अध्याय 23. दान

221 देना दान गरीब को, है यथार्थ में दान ।प्रत्याशा प्रतिदान की, है अन्य में निदान ॥
222 मोक्ष-मार्ग ही क्यों न हो, दान- ग्रहण अश्रेय ।यद्यपि मोक्ष नहीं मिले, दान-धर्म ही श्रेय ॥
223 'दीन-हीन हूँ' ना कहे, करता है यों दान ।केवल प्राप्य कुलीन में, ऐसी उत्तम बान ॥

downloaded from www.pmlogy.com

224 याचित होने की दशा, तब तक रहे विषण्ण ।जब तक याचक का वदन, होगा नहीं प्रसन्न ॥
225 क्षुधा-नियन्त्रण जो रहा, तपोनिष्ठ की शक्ति ।क्षुधा-निवारक शक्ति के, पीछे ही वह शक्ति ॥
226 नाशक-भूक दरिद्र की, कर मिटा कर दूर । वह धनिकों को चयन हित, बनता कोष ज़रूर ॥
227 भोजन को जो बाँट कर, किया करेगा भोग ।उसे नहीं पीड़ित करे, क्षुधा भयंकर रोग ॥
228 धन-संग्रह कर खो रहा, जो निर्दय धनवान ।दे कर होते हर्ष का, क्या उसको नहिं ज्ञान ॥
229 स्वयं अकेले जीमना, पूर्ति के हेतु ।याचन करने से अधिक, निश्चय दुख का हेतु ॥
230 मरने से बढ़ कर नहीं, दुख देने के अर्थ ।सुखद वही जब दान में, देने को असमर्थ ॥

अध्याय 24. कीर्ति

231 देना दान गरिब को, जीना कर यश-लाभ ।इससे बढ़ कर जीव को, और नहीं है लाभ ॥
232 करता है संसार तो, उसका ही गुण-गान ।याचक को जो दान में, कुछ भी करें प्रदान ॥
233 टिकती है संसार में, अनुपम कीर्ति महान ।अविनाशी केवल वही, और न कोई जान ॥
234 यदि कोई भूलोक में, पाये कीर्ति महान ।देवलोक तो ना करें, ज्ञानी का गुण-गान ॥
235 ह्रास बने यशवृद्धिकर, मृत्यु बने अमरत्व ।ज्ञानवान बिन और में, संभव न यह महत्व ॥
236 जन्मा तो यों जन्म हो, जिसमें होवे नाम ।जन्म न होना है भला, यदि न कमाया नाम ॥
237 कीर्तिमान बन ना जिया, कुढ़ता स्वयं न आप ।निन्दक पर कुढ़ते हुए, क्यों होता है ताप ॥
238 यदि नहिं मिली परंपरा, जिसका है यश नाम ।तो जग में सब के लिये, वही रहा अपनाम ॥
239 कीर्तिहीन की देह का, भू जब ढोती भार ।पावन प्रभूत उपज का, क्षय होता निर्धार ॥
240 निन्दा बिन जो जी रहा, जीवित वही सुजान ।कीर्ति बिना जो जी रहा, उसे मरा ही जान ॥

अध्याय 25. दयालुता

241 सर्व धनों में श्रेष्ठ है, दयारूप संपत्ति ।नीच जनों के पास भी, है भौतिक संपत्ति ॥
242 सत्-पथ पर चल परख कर, दयाव्रती बन जाय ।धर्म-विवेचन सकल कर, पाया वही सहाय ॥
243 अन्धकारमय नरक है, जहाँ न सुख लवलेश ।दयापूर्ण का तो वहाँ, होता नहीं प्रवेश ॥
244 सब जीवों को पालते, दयाव्रती जो लोग ।प्राण-भयंकर पाप का, उन्हें न होगा योग ॥
245 दुःख- दर्द उनको नहीं, जो है दयानिधान ।पवन संचरित उर्वरा, महान भूमि प्रमाण ॥
246 जो निर्दय हैं पापरत, यों कहते धीमान ।तज कर वे पुरुषार्थ को, भूले दुःख महान ॥
247 प्राप्य नहीं धनरहित को, ज्यों इहलौकिक भोग ।प्राप्य नहीं परलोक का, दयारहित को योग ॥
248 निर्धन भी फूले-फले, स्यात् धनी बन जाय ।निर्दय है निर्धन सदा, काया पलट न जाय ॥
249 निर्दय-जन-कृत सुकृत पर, अगर विचारा जाय ।तत्व-दर्श ज्यों अज्ञ का, वह तो जाना जाय ॥
250 रोब जमाते निबल पर, निर्दय करे विचार ।अपने से भी प्रभल के, सम्मुख खुद लाचार ॥

अध्याय 26. माँस- वर्जन

251 माँस-वृद्धि अपनी समझ, जो खाता पर माँस ।कैसे दयार्द्रता-सुगुण, रहता उसके पास ॥
252 धन का भोग उन्हें नहीं, जो न करेंगे क्षेम ।माँसाहारी को नहीं, दयालुता का नेम ॥
253 ज्यों सशस्त्र का मन कभी, होता नहीं दयाल ।रुच रुच खावे माँस जो, उसके मन का हाल ॥
254 निर्दयता है जीववध. दया अहिंसा धर्म ।करना माँसाहार है, धर्म हीन दुष्कर्म ॥
255 रक्षण है सब जीव का, वर्जन करना माँस ।बचे नरक से वह नहीं, जो खाता है माँस ॥
256 वध न करेंगे लोग यदि, करने को आहार ।आमिष लावेगा नहीं, कोई विक्रयकार ॥
257 आमिष तो इक जन्तु का, व्रण है यों सुविचार ।यदि होगा तो चाहिए, तजना माँसाहार ॥
258 जीव-हनन से छिन्न जो, मृत शरीर है माँस ।दोषरहित तत्वज्ञ तो, खायेंगे नहिं माँस ॥
259 यज्ञ हज़रों क्या किया, दे दे हवन यथेष्ट ।किसी जीव को हनन कर, माँस न खाना श्रेष्ठ ॥
260 जो न करेगा जीव-वध, और न माँसाहार ।हाथ जोड़ सारा जगत, करता उसे जुहार ॥

अध्याय 27. तप

261 तप नियमों को पालते, सहना कष्ट महान ।जीव-हानि-वर्जन तथा, तप का यही निशान ॥
262 तप भी बस उनका रहा, जिनको है वह प्राप्त ।यत्न वृथा उसके लिये, यदि हो वह अप्राप्त ॥
263 भोजनादि उपचार से, तपसी सेवा-धर्म ।करने हित क्या अन्य सब, भूल गये तप-कर्म ॥
264 दुखदायी रिपु का दमन, प्रिय जन क उत्थान ।स्मरण मात्र से हो सके, तप के बल अम्लान ॥
265 तप से सब कुछ प्राप्य हैं, जो चाहे जिस काल ।इससे तप-साधन यहाँ, करना है तत्काल ॥
266 वही पुरुष कृतकृत्य है, जो करता तप-कर्म ।करें कामवश अन्य सब, स्वहानिकारक कर्म ॥
267 तप तप कर ज्यों स्वर्ण की, होती निर्मल कान्ति ।तपन ताप से ही तपी, चमक उठें उस भाँति ॥
268 आत्म-बोध जिनको हुआ, करके वश निज जीव ।उनको करते वंदना, शेष जगत के जीव ॥
269 जिस तपसी को प्राप्त है, तप की शक्ति महान ।यम पर भी उसकी विजय, संभव है तू जान ॥

downloaded from www.pmlogy.com

270 निर्धन जन-गणना अधिक, इसका कौन निदान ।तप नहिं करते बहुत जन, कम हैं तपोनिधान ॥

अध्याय 28. मिथ्याचार

271 वंचक के आचार को, मिथ्यापूर्ण विलोक ।पाँचों भूत शरीरगत, हँस दे मन में रोक ॥
272 उच्च गगन सम वेष तो, क्या आवेगा काम ।समझ- बूंझ यदि मन करे, जो है दूषित काम ॥
273 महा साधु का वेष धर, दमन-शक्ति नहिं, हाय ।व्याघ्र-चर्म आढे हुए, खेत चरे ज्यों गाय ॥
274 रहते तापस भेस में, करना पापाचार ।झाड़-आड़ चिड़िहार ज्यों, पंछी पकड़े मार ॥
275 'हूँ विरक्त' कह जो मनुज, करता मिथ्याचार ।कष्ट अनेकों हों उसे, स्वयं करे धिक्कार ॥
276 मोह-मुक्त मन तो नहीं, है निर्मम की बान ।मिथ्याचारी के सदृश, निष्ठुर नहीं महान ॥
277 बाहर से है लालिमा, हैं घुंघची समान ।उसका काला अग्र सम, अन्दर है अज्ञान ॥
278 नहा तीर्थ में ठाट से, रखते तापस भेस ।मित्थ्याचारी हैं बहुत, हृदय शुद्ध नहिं लेश ॥
279 टेढ़ी वीणा है मधुर, सीधा तीर कठोर ।वैसे ही कृति से परख, किसी साधु की कोर ॥
280 साधक ने यदि तज दिया, जग-निन्दित सब काम ।उसको मुंडा या जटिल, बनना है बेकाम ॥

अध्याय 29. अस्तेय

281 निन्दित जीवन से अगर, इच्छा है बच जाय ।चोरी से पर-वस्तु की, हृदय बचाया जाय ॥
282 चोरी से पर-संपदा, पाने का कुविचार ।लाना भी मन में बुरा, है यह पापाचार ॥
283 चोरी-कृत धन में रहे, बढ़ने का आभास ।पर उसका सीमारहित, होता ही है नाश ॥
284 चोरी के प्रति लालसा, जो होती अत्यन्त ।फल पोने के समय पर, देती दुःख अनन्त ॥
285 है गफलत की ताक में, पर-धन की है चाह ।दयाशीलता प्रेम की, लोभ न पकड़े राह ॥
286 चौर्य-कर्म प्रति हैं जिन्हें, रहती अति आसक्ति ।मर्यादा पर टिक उन्हें, चलने को नहिं शक्ति ॥
287 मर्यादा को पालते, जो रहते सज्ञान ।उनमें होता है नहीं, चोरी का अज्ञान ॥
288 ज्यों मर्यादा-पाल के, मन में स्थिर है धर्म ।त्यों प्रवंचना-पाल के, मन में वंचक कर्म ॥
289 जिन्हें चौर्य को छोड़ कर, औ' न किसी का ज्ञान ।मर्यादा बिन कर्म कर, मिटते तभी अजान ॥
290 चिरों को निज देह भी, ढकेल कर दे छोड़ ।पालक को अस्तेय व्रत, स्वर्ग न देगा छोड़ ॥

अध्याय 30. सत्य

291 परिभाषा है सत्य की, वचन विनिर्गत हानि ।सत्य-कथन से अल्प भी न हो किसी को ग्लानि ॥
292 मिथ्या-भाषण यदि करे, दोषरहित कल्याण ।तो यह मिथ्या-कथन भी, मानो सत्य समान ॥
293 निज मन समझे जब स्वयं, झूठ न बोलें आप ।बोलें तो फिर आप को, निज मन दे संताप ॥
294 मन से सत्याचरण का, जो करता अभ्यास ।जग के सब के हृदय में, करता है वह वास ॥
295 दान-पुण्य तप-कर्म भी, करते हैं जो लोग ।उनसे बढ़ हैं, हृदय से, सच बोलें जो लोग ॥
296 मिथ्या-भाषण त्याग सम, रहा न कीर्ति-विकास ।उससे सारा धर्म-फल, पाये बिना प्रयास ॥
297 सत्य-धर्म का आचरण, सत्य-धर्म ही मान ।अन्य धर्म सब त्यागना, अच्छा ही है जान ॥
298 बाह्य-शुद्धता देह को, देता ही है तोय ।अन्तः करण-विशुद्धता, प्रकट सत्य से जोंय ॥
299 दीपक सब दीपक नहीं, जिनसे हो तम-नाश ।सत्य-दीप ही दीप है, पावें साधु प्रकाश ॥
300 हमने अनुसन्धान से, जितने पाये तत्व ।उनमें कोई सत्य सम, पाता नहीं महत्व ॥

अध्याय 31. अक्रोध

301 जहाँ चले वश क्रोध का, कर उसका अवरोध ।अवश क्रोध का क्या किया, क्या न किया उपरोध ॥
302 वश न चले जब क्रोध का, तब है क्रोध खराब ।अगर चले बश फिर वही, सबसे रहा खराब ॥
303 किसी व्यक्ति पर भी कभी, क्रोध न कर, जा भूल ।क्योंकि अनर्थों का वही, क्रोध बनेगा मूल ॥
304 हास और उल्लास को, हनन करेगा क्रोध ।उससे बढ़ कर कौन है, रिपु जो करे विरोध ॥
305 रक्षा हित अपनी स्वयं, बचो क्रोध से साफ़ ।यदि न बचो तो क्रोध ही, तुम्हें करेगा साफ़ ॥
306 आश्रित जन का नाश जो, करे क्रोध की आग ।इष्ट-बन्धु-जन-नाव को, जलायगी वह आग ॥
307 मान्य वस्तु सम क्रोध को, जो माने वह जाय ।हाथ मार ज्यों भूमि पर, चोट से न बच जाय ॥
308 अग्निज्वाला जलन ज्यों, किया अनिष्ट यथेष्ट ।फिर भी यदि संभव हुआ, क्रोध-दमन है श्रेष्ठ ॥
309 जो मन में नहिं लायगा, कभी क्रोध का ख्याल ।मनचाही सब वस्तुएँ, उसे प्राप्य तत्काल ॥
310 जो होते अति क्रोधवश, हैं वे मृतक समान ।त्यागी हैं जो क्रोध के, त्यक्त-मृत्यु सम मान ॥

अध्याय 32. अहिंसा

311 तप-प्राप्र धन भी मिले, फिर भी साधु-सुजान ।हानि न करना अन्य की, मानें लक्ष्य महान ॥
312 बुरा किया यदि क्रोध से, फिर भी सधु-सुजान ।ना करना प्रतिकार ही, मानें लक्ष्य महान ॥
313 'बुरा किया कारण बिना', करके यही विचार ।किया अगर प्रतिकार तो, होगा दुःख अपार ॥
314 बुरा किया तो कर भला, बुरा भला फिर भूल ।पानी पानी हो रहा, बस उसको यह शूल ॥

downloaded from www.pmlogy.com

315 माने नहिं पर दुःख को, यदि निज दुःख समान ।तो होता क्या लाभ है, रखते तत्वज्ञान ॥
316 कोई समझे जब स्वयं, बुरा फलाना कर्म ।अन्यों पर उस कर्म को, नहीं करे, यह धर्म ॥
317 किसी व्यक्ति को उल्प भी, जो भी समय अनिष्ट ।मनपूर्वक करना नहीं, सबसे यही वरिष्ठ ॥
318 जिससे अपना अहित हो, उसका है दृढ़ ज्ञान ।फिर अन्यों का अहित क्यों, करता है नादान ॥
319 दिया सबेरे अन्य को, यदि तुमने संताप ।वही ताप फिर साँझ को, तुमपर आवे आप ॥
320 जो दुःख देगा अन्य को, स्वयं करे दुःख-भोग ।दुःख-वर्जन की चाह से, दुःख न दें बुधलोग ॥

अध्याय 33. वध-निशेध

321 धर्म-कृत्य का अर्थ है, प्राणी-वध का त्याग ।प्राणी-हनन दिलायगा, सर्व-पाप-फल-भाग ॥
322 खाना बाँट क्षुधार्त्त को, पालन कर सब जीव ।शास्त्रकार मत में यही, उत्तम नीति अतीव ॥
323 प्राणी-हनन निषेध का, अद्‌वितीय है स्थान ।तदनन्तर ही श्रेष्ठ है, मिथ्या-वर्जन मान ॥
324 लक्षण क्या उस पंथ का, जिसको कहें सुपंथ ।जीव-हनन वर्जन करे, जो पथ वही सुपंथ ॥
325 जीवन से भयभीत हो, जो होते हैं संत ।वध-भय से वध त्याग दे, उनमें वही महंत ॥
326 हाथ उठावेगा नहीं जीवन-भक्षक काल ।उस जीवन पर, जो रहें, वध-निषेध-व्रत-पाल ॥
327 प्राण-हानि अपनी हुई, तो भी हो निज धर्म ।अन्यों के प्रिय प्राण का, करें न नाशक कर्म ॥
328 वध-मूलक धन प्राप्ति से, यद्‌यपि हो अति प्रेय ।संत महात्मा को वही, धन निकृष्ट है ज्ञेय ॥
329 प्राणी-हत्या की जिन्हें, निकृष्टता का भान ।उनके मत में वधिक जन, हैं चण्डाल मलान ॥
330 जीवन नीच दरिद्र हो, जिसका रुग्ण शरीर ।कहते बुध, उसने किया, प्राण-वियुक्त शरीर ॥

अध्याय 34. अनित्यता

331 जो है अनित्यवस्तुएँ, नित्य वस्तु सम भाव ।अल्पबुद्‌धिवश जो रहा, है यह नीच स्वभाव ॥
332 रंग-भूमि में ज्यो जमे, दर्शक गण की भीड़ ।जुड़े प्रचुर संपत्ति त्यों, छँटे यथा वह भीड़ ॥
333 धन की प्रकृति अनित्य है, यदि पावे ऐश्वर्य ।तो करना तत्काल ही, नित्य धर्म सब वर्य ॥
334 काल-मान सम भासता, दिन है आरी-दांत ।सोचो तो वह आयु को, चीर रहा दुर्दान्त ॥
335 जीभ बंद हो, हिचकियाँ लगने से ही पूर्व ।चटपट करना चाहिये, जो है कर्म अपूर्व ॥
336 कल जो था, बस, आज तो, प्राप्त किया पंचत्व ।पाया है संसार ने, ऐसा बड़ा महत्व ॥
337 अगले क्षण क्या जी रहें, इसका है नहिं बोध ।चिंतन कोटिन, अनगिनत, करते रहें अबोध ॥
338 अंडा फूट हुआ अलग, तो पंछी उड़ जाय ।वैसा देही-देह का, नाता जाना जाय ॥
339 निद्रा सम ही जानिये, होता है देहान्त ।जगना सम है जनन फिर, निद्रा के उपरान्त ॥
340 आत्मा का क्या है नहीं, कोई स्थायी धाम ।सो तो रहती देह में, भाड़े का सा धाम ॥

अध्याय 35. संन्यास

341 ज्यों ज्यों मिटती जायगी, जिस जिसमें आसक्ति ।त्यों त्यों तद्‌गत दुःख से, मुक्त हो रहा व्यक्ति ॥
342 संन्यासी यदि बन गया, यहीं कई आनन्द ।संन्यासी बन समय पर, यदि होना आनन्द ॥
343 दृढ़ता से करना दमन, पंचेन्द्रियगत राग ।उनके प्रेरक वस्तु सब, करो एकदम त्याग ॥
344 सर्वसंग का त्याग ही, तप का है गुण-मूल ।बन्धन फिर तप भंग कर, बने अविद्‌या-मूल ॥
345 भव- बन्धन को काटते, बोझा ही है देह ।फिर औरों से तो कहो, क्यों संबन्ध- सनेह ॥
346 अहंकार ममकार को, जिसने किया समाप्त ।देवों को अप्राप्य भी, लोक करेगा प्राप्त ॥
347 अनासक्त जो न हुए, पर हैं अति आसक्त ।उनको लिपटें दुःख सब, और करें नहिं त्यक्त ॥
348 पूर्ण त्याग से पा चुके, मोक्ष- धाम वे धन्य ।भव- बाधा के जाल में, फँसें मोह- वश अन्य ॥
349 मिटते ही आसक्ति के, होगी भव से मुक्ति ।बनी रहेगी अन्यथा, अनित्यता की भुक्ति ॥
350 वीतराग के राग में, हो तेरा अनुराग ।सुदृढ़ उसी में रागना, जिससे पाय विराग ॥

अध्याय 36. तत्वज्ञान

351 मिथ्या में जब सत्य का, होता भ्रम से भान ।देता है भव-दुःख को, भ्रममूलक वह ज्ञान ।
352 मोह-मुक्त हो पा गये, निर्मल तत्वज्ञान ।भव-तम को वह दूर कर, दे आनन्द महान ॥
353 जिसने संशय-मुक्त हो, पाया ज्ञान-प्रदीप ।उसको पृथ्वी से अधिक, रहता मोक्ष समीप ॥
354 वशीभूत मन हो गया, हुई धारणा सिद्‌ध ।फिर भी तत्वज्ञान बिन, फल होगा नहिं सिद्‌ध ॥
355 किसी तरह भी क्यों नहीं, भासे अमुक पदार्थ ।तथ्य-बोध उस वस्तु का, जानो ज्ञान पथार्थ ॥
356 जिसने पाया श्रवण से, यहीं तत्व का ज्ञान ।मोक्ष-मार्ग में अग्रसर, होता वह धीमान ॥
357 उपदेशों को मनन कर, सत्य-बोध हो जाय ।पुनर्जन्म की तो उन्हें, चिन्ता नहिं रह जाय ॥
358 जन्म-मूल अज्ञान है, उसके निवारणार्थ ।मोक्ष-मूल परमार्थ का, दर्शन ज्ञान पथार्थ ॥
359 जगदाश्रय को समझ यदि, बनो स्वयं निर्लिप्त ।नाशक भावी दुःख सब, करें कभी नहिं लिप्त ॥
360 काम क्रोध औ' मोह का न हो नाम का योग ।तीनों के मिटते, मिटे, कर्म-फलों का रोग ॥

downloaded from www.pmlogy.com

अध्याय 37. तृष्णा का उन्मूलन

361 सर्व जीव को सर्वदा, तृष्णा-बीज अचूक ।पैदा करता है वही, जन्म-मरण की हूक ॥
362 जन्म-नाश की चाह हो, यदि होनी है चाह ।चाह-नाश की चाह से, पूरी हो वह चाह ॥
363 तृष्णा-त्याग सदृश नहीं, यहाँ श्रेष्ठ धन-धाम ।स्वर्ग-धाम में भी नहीं, उसके सम धन-धाम ॥
364 चाह गई तो है वही, पवित्रता या मुक्ति ।करो सत्य की चाह तो, होगी चाह-विमुक्ति ॥
365 कहलाते वे मुक्त हैं, जो हैं तृष्णा-मुक्त ।सब प्रकार से, अन्य सब, उतने नहीं विमुक्त ॥
366 तृष्णा से डरते बचे, है यह धर्म महान ।न तो फँसाये जाल में, पा कर असावधान ॥
367 तृष्णा को यदि कर दिया, पूरा नष्ट समूल ।धर्म-कर्म सब आ मिले, इच्छा के अनुकूल ॥
368 तृष्णा-त्यागी को कभी, होगा ही नहिं दुःख ।तृष्णा के वश यदि पड़े,होगा दुःख पर दुःख ॥
369 तृष्णा का यदि नाश हो, जो है दुःख कराल ।इस जीवन में भी मनुज, पावे सुख चिरकाल ॥
370 तृष्णा को त्यागो अगर, जिसकी कभी न तुष्टि ।वही दशा दे मुक्ति जो, रही सदा सन्तुष्टि ॥

अध्याय 38. प्रारब्ध

371 अर्थ-वृद्धि के भाग्य से, हो आलस्य-अभाव ।अर्थ-नाश के भाग्य से, हो आलस्य स्वभाव ॥
372 अर्थ-क्षयकर भाग्य तो, करे बुद्धि को मन्द ।अर्थ-वृद्धिकर भाग्य तो, करे विशाल अमन्द ॥
373 गूढ़ शास्त्र सीखें बहुत, फिर भी अपना भाग्य ।मन्द बुद्धि का हो अगर, हावी मांद्य अभाग्य ॥
374 जगत-प्रकृति है नियतिवश, दो प्रकार से भिन्न ।श्रीयुत होना एक है, ज्ञान-प्राप्ति है भिन्न ॥
375 धन अर्जन करत समय, विधिवश यह हो जाय ।बुरा बनेगा सब भला, बुरा भला बन जाय ॥
376 कठिन यत्न भी ना रखे, जो न रहा निज भाग ।निकाले नहीं निकलता, जो है अपने भाग ॥
377 भाग्य-विद्यायक के किये, बिना भाग्य का योग ।कोटि चयन के बाद भी, दुर्लभ है सुख-भोग ॥
378 दुःख बदे जो हैं उन्हें, यदि न दिलावें दैव ।सुख से वंचित दीन सब, बनें विरक्त तदैव ॥
379 रमता है सुख-भोग में, फल दे जब सत्कर्म ।गड़बड़ करना किसलिये, फल दे जब दुष्कर्म ॥
380 बढ़ कर भी प्रारब्ध से, क्या है शक्ति महान ।जयी वही उसपर अगर, चाल चलावे आन ॥

भाग–२: अर्थ- कांड

अध्याय 39. महीश महिमा

381 सैन्य राष्ट्र धन मित्रगण, दुर्ग अमात्य षड़ंग ।राजाओं में सिंह है, जिसके हों ये संग ॥
382 दानशीलता निडरपन, बुद्धि तथा उत्साह ।इन चारों से पूर्ण हो, स्वभाव से नरनाह ॥
383 धैर्य तथा अविलंबना, विद्या भी हो साथ ।ये तीनों भू पाल को, कभी न छोड़ें साथ ॥
384 राजधर्म से च्युत न हो, दूर अधर्म निकाल ।वीरधर्म से च्युत न हो, मानी वही नृपाल ॥
385 कर उपाय धन-वृद्धि का, अर्जन भी कर खूब ।रक्षण, फिर विनियोग में, सक्षम जो वह भूप ॥
386 दर्शन जिसके सुलभ हैं, और न वचन कठोर ।ऐसे नृप के राज्य की, शंसा हो बरजोर ॥
387 जो प्रिय वचयुत दान कर, ढिता रक्षण-भार ।बनता उसके यश सहित, मनचाहा संसार ॥
388 नीति बरत कर भूप जो, करता है जन-रक्ष ।प्रजा मानती है उसे, ईश तुल्य प्रत्यक्ष ॥
389 जिस नृप में बच कर्ण कटु, शने का संस्कार ।उसकी छत्रच्छाँह में, टिकता है संसार ॥
390 प्रजा-सुरक्षण प्रिय वचन, तथा सुशासन दान ।इन चारों से पूर्ण नृप, महीप-दीप समान ॥

अध्याय 40. शिक्षा

391 सीख सीखने योग्य सब, भ्रम संशय बिन सीख ।कर उसके अनुसार फिर, योग्य आचरण ठीक ॥
392 अक्षर कहते है जिसे, जिसको कहते आँक ।दोनों जीवित मनुज के, कहलाते हैं आँख ॥
393 कहलाते हैं नेत्रयुत, जो हैं विद्यावान ।मुख पर रखते घाव दो, जो है अपढ़ अजान ॥
394 हर्षप्रद होता मिलन, चिन्ताजनक वियोग ।विद्वज्जन का धर्म है, ऐसा गुण-संयोग ॥
395 धनी समक्ष दरिद्र सम, झुक झुक हो कर दीन ।शिक्षित बनना श्रेष्ठ है, निकृष्ट विद्याहीन ॥
396 जितना खोदो पुलिन में, उतना नीर-निकास ।जितना शिक्षित नर बने, उतना बुद्धि-विकास ॥
397 अपना है विद्वान का, कोई पुर या राज ।फिर क्यों रहता मृत्यु तक, कोई अपढ़ अकाज ॥
398 जो विद्या इक जन्म में, नर से पायी जाय ।सात जन्म तक भी उसे, करती वही सहाय ॥
399 हर्ष हेतु अपने लिये, वैसे जग हित जान ।उस विद्या में और रत, होते हैं विद्वान ॥
400 शिक्षा-धन है मनुज हित, अक्षय और यथेष्ट ।अन्य सभी संपत्तियाँ, होती हैं नहिं श्रेष्ठ ॥

अध्याय 41. अशिक्षा

401 सभा-मध्य यों बोलना, बिना पढ़े सदग्रन्थ ।है पासे का खेल ज्यों, बिन चौसर का बंध ॥
402 यों है अपढ़ मनुष्य की, भाषण-पटुता-चाह ।ज्यों दोनों कुचरहित की, स्त्रीत्व-भोग की चाह ॥
403 अपढ़ लोग भी मानिये, उत्तम गुण का भौन ।विद्वानों के सामने, यदि साधेंगे मौन ॥
404 बहुत श्रेष्ठ ही क्यों न हो, कभी मूर्ख का ज्ञान ।विद्वज्जन का तो उसे, नहीं मिलेगा मान ॥

downloaded from www.pmlogy.com

405 माने यदि कोई अपढ़, बुद्धिमान ही आप ।मिटे भाव वह जब करें, बुध से वार्त्तालाप ॥
406 जीवित मात्र रहा अपढ़, और न कुछ वह, जान ।उत्पादक जो ना रही, ऊसर भूमि समान ॥
407 सूक्ष्म बुद्धि जिसकी नहीं, प्रतिभा नहीं अनूप ।मिट्टी की सुठि मूर्ति सम, उसका खिलता रूप ॥
408 शिक्षित के दारिद्रय से, करती अधिक विपत्ति ।मूर्ख जनों के पास जो, जमी हुई संपत्ति ॥
409 उच्छ जाति का क्यों न हो, तो भी अपढ़ अजान ।नीच किन्तु शिक्षित सदृश, पाता नहिं सम्मान ॥
410 नर से पशु की जो रहा, तुलना में अति भेद ।अध्येत सद्ग्रन्थ के, तथा अपढ़ में भेद ॥

अध्याय 42. श्रवण

411 धन धन में तो श्रवण-धन, रहता अधिक प्रधान ।सभी धनों में धन वही, पाता शीर्षस्थान ॥
412 कानों को जब ना मिले, श्रवण रूप रस पान ।दिया जाय तब पेट को, कुछ भोजन का दान ॥
413 जिनके कानों को मिला, श्रवण रूप में भोग ।हवि के भोजी देव सम, भुवि में हैं वे लोग ॥
414 यद्यपि शिक्षित है नहीं, करे श्रवण सविवेक ।क्लांत दशा में वह उसे, देगा सहाय टेक ॥
415 फिसलन पर चलते हुए, ज्यों लाठी की टेक ।त्यों हैं, चरित्रवान के, मूँह के वच सविवेक ॥
416 श्रवण करो सद्विषय का, जितना ही हो अल्प ।अल्प श्रवण भी तो तुम्हें, देगा मान अनल्प ॥
417 जो जन अनुसंधान कर, रहें बहु-श्रुत साथ ।यद्यपि भूलें मोहवश, करें न जड़ की बात ॥
418 श्रवण श्रवण करके भला, छिद न गये जो कान ।श्रवण-शक्ति रखते हुए, बहरे कान समान ॥
419 जिन लोगों को है नहीं, सूक्ष्म श्रवण का ज्ञान ।नम्र वचन भी बोलना, उनको दुष्कर जान ॥
420 जो जाने बिन श्रवण रस, रखता जिह्वा-स्वाद ।चाहे जीये या मरे, उससे सुख न विषाद ॥

अध्याय 43. बुद्धिमत्ता

421 रक्षा हित कै नाश से, बुद्धिरूप औजार ।है भी रिपुओं के लिये, दुर्गम दुर्ग आपार ॥
422 मनमाना जाने न दे, पाप-मार्ग से थाम ।मन को लाना सुपथ पर, रहा बुद्धि का काम ॥
423 चाहे जिससे भी सुनें, कोई भी हो बात ।तत्व-बोध उस बात का, बुद्धि युक्तता ज्ञात ॥
424 कह प्रभावकर ढंग से, सुगम बना स्वविचार ।सुधी समझता अन्य के, सूक्ष्म कथन का सार ॥
425 मैत्री उत्तम जगत की, करते हैं धीमान ।खिल कर सकुचाती नहीं, सुधी-मित्रता बान ॥
426 जैसा लोकाचार है, उसके ही उपयुक्त ।जो करना है आचारण, वही सुधी के युक्त ॥
427 बुद्धिमान वे हैं जिन्हें, है भविष्य का ज्ञान ।बुद्धिहीन वे हैं जिन्हें, प्राप्त नहीं वह ज्ञान ॥
428 निर्भयता भेतव्य से, है जड़ता का नाम ।भय रखना भेतव्य से, रहा सुधी का काम ॥
429 जो भावी को जान कर, रक्षा करता आप ।दुःख न दे उस प्राज्ञ को, भयकारी संताप ॥
430 सब धन से संपन्न हैं, जो होते मतिमान ।चाहे सब कुछ क्यों न हो, मूर्ख दरिद्र समान ॥

अध्याय 44. दोष-निवारण

431 काम क्रोध मद दोष से, जो होते हैं मुक्त ।उनकी जो बढ़ती हुई, होती महिमा-युक्त ॥
432 हाथ खींचना दान से, रखना मिथ्या मान ।नृप का अति दाक्षिण्य भी, मानो दोष अमान ॥
433 निन्दा का डर है जोन्हें, तिलभर निज अपराध ।होता तो बस ताड़ सम, मानें उसे अगाध ॥
434 बचकर रहना दोष से, लक्ष्य मान अत्यंत ।परम शत्रु है दोष ही, जो कर देगा अंत ॥
435 दोष उपस्थिति पूर्व ही, किया न जीवन रक्ष ।तो वह मिटता है यथा, भूसा अग्नि समक्ष ॥
436 दोष-मुक्त कर आपको, बाद पराया दाष ।जो देखे उस भूप में, हो सकता क्या दोष ॥
437 जो धन में आसक्त है, बिना किये कर्तव्य ।जमता उसके पास जो, व्यर्थ जाय वह द्रव्य ॥
438 धनासक्ति जो लोभ है, वह है दोष विशेश ।अन्तर्गत उनके नहीं, जितने दोष अशेष ॥
439 श्रेष्ठ समझ कर आपको, कभी न कर अभिमान ।चाह न हो उस कर्म की, जो न करे कल्याण ॥
440 भोगेगा यदि गुप्त रख, मनचाहा सब काम ।रिपुओं का षड्यंत्र तब, हो जावे बेकाम ॥

अध्याय 45. सत्संग-लाभ

441 ज्ञानवृद्ध जो बन गये, धर्म-सूक्ष्म को जान ।मैत्री उनकी, ढ़ंग से, पा लो महत्व जान ॥
442 आगत दुःख निवार कर, भावी दुःख से त्राण ।करते जो, अपना उन्हें, करके आदर-मान ॥
443 दुर्लभ सब में है यही, दुर्लभ भाग्य महान ।स्वजन बनाना मान से, जो हैं पुरुष महान ॥
444 करना ऐसा आचरण, जिससे पुरुष महान ।बन जावें आत्मीय जन, उत्तम बल यह जान ॥
445 आँख बना कर सचिव को, ढोता शासन-भार ।सो नृप चुन ले सचिव को, करके सोच विचार ॥
446 योग्य जनों का बन्धु बन, करता जो व्यवहार ।उसका कर सकते नहीं, शत्रु लोग अपकार ॥
447 दोष देख कर डाँटने जब हैं मित्र सुयोग्य ।तब नृप का करने अहित, कौन शत्रु है योग्य ॥
448 डांट-डपटते मित्र की, रक्षा बिन नरकंत ।शत्रु बिना भी हानिकर, पा जाता है अंत ॥
449 बिना मूलधन वणिक जन, पावेंगे नहिं लाभ ।सहचर-आश्रय रहित नृप, करें न स्थिरता लाभ ॥
450 बहुत जनों की शत्रुता, करने में जो हानि ।उससे बढ़ सत्संग को, तजने में है हानि ॥

downloaded from www.pmlogy.com

अध्याय 46. कुसंग-वर्जन

451 ओछों से डरना रहा, उत्तम जन की बान ।गले लगाना बन्धु सम, है ओछों की बान ॥
452 मिट्टी गुणानुसार ज्यों, बदले वारि-स्वभाव ।संगति से त्यों मनुज का, बदले बुद्धि-स्वभाव ॥
453 मनोजन्य है मनुज का, प्राकृत इन्द्रियज्ञान ।ऐसा यह यों नाम तो, संग-जन्य है जान ॥
454 मनोजन्य सा दीखता, भले बुरे का ज्ञान ।संग-जन्य रहता मगर, नर का ऐसा ज्ञान ॥
455 मन की होना शुद्धता, तथा कर्म की शुद्धि ।दोनों का अवलंब है, संगति की परिशुद्धि ॥
456 पातें सत्सन्तान हैं, जिनका है मन शुद्ध ।विफल कर्म होता नहीं, जिनका रंग विशुद्ध ॥
457 मन की शुद्धि मनुष्य को, देती है ऐश्वर्य ।सत्संगति तो फिर उसे, देती सब यश वर्य ॥
458 शुद्ध चित्तवाले स्वतः, रहते साधु महान ।सत्संगति फिर भी उन्हें, करती शक्ति प्रदान ॥
459 चित्त-शुद्धि परलोक का, देती है आनन्द ।वही शुद्धि सत्संग से होती और बुलन्द ॥
460 साथी कोई है नहीं, साध- संग से उच्च ।बढ़ कर कुसंग से नहीं, शत्रु हानिकर तुच्छ ॥

अध्याय 47. सुविचारित कार्य-कुशलता

461 कर विचार व्यय-आय का, करना लाभ-विचार ।फिर हो प्रवृत्त कार्य में, करके सोच-विचार ॥
462 आप्तों से कर मंत्रणा, करता स्वयं विचार ।उस कर्मी को है नहीं, कुछ भी असाध्य कार ॥
463 कितना भावी लाभ हो, इसपर दे कर ध्यान ।पूँजी-नाशक कर्म तो, करते नहिं मतिमान ॥
464 अपयश के आरोप से, जो होते हैं भीत ।शुरू न करते कर्म वे, स्पष्ट न जिसकी रीत ॥
465 टूट पडे जो शत्रु पर, बिन सोचे सब मर्म ।शत्रु-गुल्म हित तो बने, क्यारी ज्यों वह कर्म ॥
466 करता अनुचित कर्म तो, होता है नर नष्ट ।उचित कर्म को छोड़ता, तो भी होता नष्ट ॥
467 होना प्रवृत्त कर्म में, करके सोच-विचार ।'हो कर प्रवृत्त सोच लें', है यह गलत विचार ॥
468 जो भी साध्य उपाय बिन, किया जायगा यत्न ।कई समर्थक क्यों न हों, खाली हो वह यत्न ॥
469 बिन जाने गुण शत्रु का, यदि उसके अनुकूल ।किया गया सदुपाय तो, उससे भी हो भूल ॥
470 अनुपयुक्त जो है तुम्हें, जग न करे स्वीकार ।करना अनिंध कार्य ही, करके सोच-विचार ॥

अध्याय 48. शक्ति का बोध

471 निज बल रिपु-बल कार्य-बल, साथी-बल भी जान ।सोच-समझ कर चाहिये, करना कार्य निदान ॥
472 साध्य कार्य को समझ कर, समझ कार्य हित ज्ञेय ।जम कर धावा जो करे, उसको कुछ न अजेय ॥
473 बोध नहीं निज शक्ति का, वश हो कर उत्साह ।कार्य शुरू कर, बीच में, मिटे कई नरनाह ॥
474 शान्ति-युक्त बरबात बिन, निज बल मान न जान ।अहम्मन्य भी जो रहे, शीघ्र मिटेगा जान ॥
475 मोर-पंख से ही सही, छकड़ा लादा जाय ।यदि लादो वह अत्यधिक, अक्ष भग्न हो जाय ॥
476 चढ़ा उच्चतम डाल पर, फिर भी जोश अनंत ।करके यदि आगे बढ़े, होगा जीवन-अंत ॥
477 निज धन की मात्रा समझ, करो रीती से दान ।जीने को है क्षेम से, उचित मार्ग वह जान ॥
478 तंग रहा तो कुछ नहीं, धन आने का मार्ग ।यदि विस्तृत भी ना रहा, धन जाने का मार्ग ॥
479 निज धन की सीमा समझ, यदि न किया निर्वाह ।जीवन समृद्ध भासता, हो जायगा तबाह ॥
480 लोकोपकारिता हुई, धन-सीमा नहिं जान ।तो सीमा संपत्ति की, शीघ्र मिटेगी जान ॥

अध्याय 49. समय का बोध

481 दिन में उल्लू पर विजय, पा लेता है काक ।नृप जिगीषु को चाहिये, उचित समय की ताक ॥
482 लगना जो है कार्य में, अवसर को पहचान ।श्री को जाने से जकड़, रखती रस्सी जान ॥
483 है क्या कार्य असाध्य भी, यदि अवसर को जान ।समिचित साधन के सहित, करता कार्य सुजान ॥
484 चाहे तो भूलोक भी, आ जायेगा हाथ ।समय समझ कर यदि करे, युक्त स्थान के साथ ॥
485 जिनको निश्चित रूप से, विश्व-विजय की चाह ।उचित समय की ताक में, वें हैं बेपरवाह ॥
486 रहता है यों सिकुड़ नृप, रखते हुए बिसात ।ज्यों मेढ़ा पीछे हटे, करने को आघात ॥
487 रूठते न झट प्रगट कर, रिपु-अति से नरनाह ।पर कुढ़ते हैं वे सुधी, देख समय की राह ॥
488 रिपु को असमय देख कर, सिर पर ढो संभाल ।सिर के बल गिर वह मिटे, आते अन्तिम काल ॥
489 दुर्लभ अवसर यदि मिले, उसको खोने पूर्व ।करना कार्य उसी समय, जो दुष्कर था पूर्व ॥
490 बक सम रहना सिकुड़ कर, जब करना नहिं वार ।चोंच-मार उसकी यथा, पा कर समय, प्रहार ॥

अध्याय 50. स्थान का बोध

491 कोई काम न कर शुरू, तथा न कर उपहास ।जब तक रिपु को घेरने, स्थल की है नहिं आस ॥
492 शत्रु-भाव से पुष्ट औ', जो हों अति बलवान ।उनको भी गढ़-रक्ष तो, बहु फल करे प्रदान ॥
493 निर्बल भी बन कर सबल, पावें जय-सम्मान ।यदि रिपु पर धावा करें, खोज सुरक्षित स्थान ॥
494 रिपु निज विजय विचार से, धो बैठेंगे हाथ ।स्थान समझ यदि कार्य में, जुड़ते दृढ नरनाथ ॥
495 गहरे जल में मगर की, अन्यों पर हो जीत ।जल से बाहर अन्य सब, पावें जय विपरीत ॥

downloaded from www.pmlogy.com

496 भारी रथ दृढ चक्रयुत, चले न सागर पार ।सागरगामी नाव भी, चले न भू पर तार ॥
497 निर्भय के अतिरिक्त तो, चाहिये न सहकार ।उचित जगह पर यदि करें, खूब सोच कर कार ॥
498 यदि पाता लघु-सैन्य-युत, आश्रय स्थल अनुकूल ।उसपर चढ़ बहु-सैन्य युत, होगा नष्ट समूल ॥
499 सदृढ़ दुर्ग साधन बड़ा, है नहिं रिपु के पास ।फिर भी उसके क्षेत्र में, भिड़ना व्यर्थ प्रयास ॥
500 जिस निर्भय गजराज के, दन्तलग्न बरछैत ।गीदड़ भी मारे उसे, जब दलदल में कैंद ॥

अध्याय 51. परख कर विश्वास करना

501 धर्म-अर्थ औ' काम से, मिला प्राण-भय चार ।इन उपधाओं से परख, विश्वस्त है विचार ॥
502 जो कुलीन निर्दोष हो, निन्दा से भयभीत ।तथा लजीला हो वही, विश्वस्त है पुनीत ॥
503 ज्ञाता विशिष्ट शास्त्र के, औ' निर्दोष स्वभाव ।फिर भी परखो तो उन्हें, नहिं अज्ञता-अभाव ॥
504 परख गुणों को फिर परख, दोषों को भी छान ।उनमें बहुतायत परख, उससे कर पहचान ॥
505 महिमा या लघिमा सही, इनकी करने जाँच ।नर के निज निज कर्म ही, बनें कसौटी साँच ॥
506 विश्वसनीय न मानिये, बन्धुहीन जो लोग ।निन्दा से लज्जित न हैं, स्नेह शून्य वे लोग ॥
507 मूर्ख जनों पर प्रेमवश, जो करता विश्वास ।सभी तरह से वह बने, जड़ता का आवास ।
508 परखे बिन अज्ञात पर, किया अगर विश्वास ।संतित को चिरकाल तक, लेनी पड़े असाँस ॥
509 किसी व्यक्ति पर मत करो, परखे बिन विश्वास ।बेशक सौंपो योग्य यद, करने पर विश्वास ॥
510 परखे बिन विश्वास भी, औ' करके विश्वास ।फिर करना सन्देह भी, देते हैं चिर नाश ॥

अध्याय 52. परख कर कार्य सौंपना

511 भले-बुरे को परख जो, करता भला पसंद ।उसके योग्य नियुक्ति को, करना सही प्रबन्ध ॥
512 आय-वृद्धि-साधन बढ़ा, धन-वर्द्धक कर कार्य ।विघ्न परख जो टालता, वही करे नृप-कार्य ॥
513 प्रेम, बुद्धि, दृढ़-चित्तता, निर्लोभता-सुनीति ।चारों जिसमें पूर्ण हों, उसपर करो प्रतीति ॥
514 सभी तरह की परख से,योग्य दिखें जो लोग ।उनमें कार्य निबाहते, विकृत बने बहु लोग ॥
515 जो करता है धैर्य से, खूब समझ सदुपाय ।उसे छोड़ प्रिय बन्धु को, कार्य न सौंपा जाय ॥
516 कर्ता का लक्षण परख, परख कर्म की रीति ।संयोजित कर काल से, सौंपों सहित प्रतीति ॥
517 इस साधन से व्यक्ति यह, कर सकता यह कार्य ।परिशीलन कर इस तरह, सौंप उसे वह कार्य ॥
518 यदि पाया इक व्यक्ति को, परख कार्य के योग्य ।तो फिर उसे नियुक्त कर, पदवी देना योग्य ॥
519 तत्परता-वश कार्य में, हुआ मित्र व्यवहार ।उसको समझे अन्यता, तो श्री जावे पार ॥
520 राज-भृत्य यदि विकृत नहिं, विकृत न होगा राज ।रोज़ परखना चाहिये, नृप को उसका काज ॥

अध्याय 53. बन्धुओं को अपनाना

521 यद्यपि निर्धन हो गये, पहले कृत उपकार ।कहते रहे बखान कर, केवल नातेदार ॥
522 बन्धु-वर्ग ऐसा मिले, जिसका प्रेम अटूट ।तो वह दे संपत्ति सब , जिसकी वृद्धिअटूट ॥
523 मिलनसार जो है नहीं, जीवन उसका व्यर्थ ।तट बिन विस्तृत ताल ज्यों, भरता जल से व्यर्थ ॥
524 अपने को पाया धनी, तो फल हो यह प्राप्त ।बन्धु-मंडली घिर रहे, यों रहना बन आप्त ॥
525 मधुर वचन जो बोलता, करता भी है दान ।बन्धुवर्ग के वर्ग से, घिरा रहेगा जान ॥
526 महादान करते हुए, जो है क्रोध-विमुक्त ।उसके सम भू में नहीं, बन्धुवर्ग से युक्त ॥
527 बिना छिपाये काँव कर, कौआ खाता भोज्य ।जो हैं उसी स्वभाव के, पाते हैं सब भोग्य ॥
528 सब को सम देखे नहीं, देखे क्षमता एक ।इस गुण से स्थायी रहें, नृप के बन्धु अनेक ॥
529 बन्धु बने जो जन रहे, तोड़े यदि बन्धुत्व ।अनबन का कारण मिटे, तो बनता बन्धुत्व ॥
530 कारण बिन जो बिछुड़ कर, लौटे कारण साथ ।साध-पूर्ति कर नृप उसे, परख, मिला के साथ ॥

अध्याय 54. अविस्मृति

531 अमित हर्ष से मस्त हो, रहना असावधान ।अमित क्रोध से भी अधिक, हानि करेगा जान ॥
532 ज्यों है नित्यदारिद्रता, करती बुद्धि-विनाश ।त्यों है असावधानता, करती कीर्ति-विनाश ॥
533 जो विस्मृत हैं वे नहीं, यश पाने के योग ।जग में यों हैं एकमत, शास्त्रकार सब लोग ॥
534 लाभ नहीं है दुर्ग से, उनको जो भयशील ।वैसे उनको ना भला, जो हैं विस्मृतिशील ॥
535 पहले से रक्षा न की, रह कर असावधान ।विपदा आने पर रहा, पछताता अज्ञान ॥
536 सब जन से सब काल में, अविस्मरण की बान ।बरती जाय अचूक तो, उसके है न समान ॥
537 रह कर विस्मृति के बिना, सोच-समझ कर कार्य ।यदि करता है तो उसे, कुछ नहिं असाध्य कार्य ॥
538 करना श्रद्धा-भाव से, शास्त्रकार-स्तुत काम ।रहा उपेक्षक, यदि न कर, सात जन्म बेकाम ॥
539 जब अपने संतोष में, मस्त बनेंगे आप ।गफलत से जो हैं मिटे, उन्हें विचारो आप ॥
540 बना रहेगा यदि सदा, लक्ष्य मात्र का ध्यान ।अपने इच्छित लक्ष्य को, पाना है आसान ॥

अध्याय 55. सुशासन

downloaded from www.pmlogy.com

541 सबसे निर्दाक्षिण्य हो, सोच दोष की रीती ।उचित दण्ड़ निष्पक्ष रह, देना ही है नीति ॥
542 जीवित हैं ज्यों जीव सब, ताक मेघ की ओर ।प्रजा ताक कर जी रही, राजदण्ड की ओर ॥
543 ब्राहमण-पोषित वेद औ', उसमें प्रस्तुत धर्म ।इनका स्थिर आधार है, राजदण्ड का धर्म ॥
544 प्रजा-पाल जो हो रहा, ढोता शासन-भार ।पाँव पकड़ उस भूप के, टिकता है संसार ॥
545 है जिस नृप के देश में, शासन सुनीतिपूर्ण ।साथ मौसिमी वृष्टि के, रहे उपज भी पूर्ण ॥
546 रजा को भाला नहीं, जो देता है जीत ।राजदण्ड ही दे विजय, यदि उसमें है सीध ॥
547 रक्षा सारे जगत की, करता है नरनाथ ।उसका रक्षक नीति है, यदि वह चले अबाध ॥
548 न्याय करे नहिं सोच कर, तथा भेंट भी कष्ट ।ऐसा नृप हो कर पतित, होता खुद ही नष्ट ॥
549 जन-रक्षण कर शत्रु से, करता पालन-कर्म ।दोषी को दे दण्ड तो, दोष न, पर नृप-धर्म ॥
550 यथा निराता खेत को, रखने फसल किसान ।मृत्यु-दण्ड नृप का उन्हें, जो हैं दुष्ट महान ॥

अध्याय 56. क्रूर-शासन

551 हत्यारे से भी अधिक, वह राजा है क्रूर ।जो जन को हैरान कर, करे पाप भरपूर ॥
552 भाला ले कर हो खड़े, डाकू की ज्यों माँग ।राजदण्डयुत की रही, त्यों भिक्षा की माँग ॥
553 दिन दिन नीति विचार कर, नृप न करे यदि राज ।ह्रासोन्मुख होता रहे, दिन दिन उसका राज ॥
554 नीतिहीन शासन करे, बिन सोचे नरनाथ ।तो वह प्रजा व वित्त को, खो बैठे इक साथ ॥
555 उतपीड़ित जन रो पड़े, जब वेदना अपार ।श्री का नाशक शास्त्र है, क्या न नेत्र-जल-धार ॥
556 नीतिपूर्ण शासन रखे, नृप का वश चिरकाल ।नीति न हो तो, भूप का, यश न रहे सब काल ॥
557 अनावृष्टि से दुःख जो, पाती भूमि अतीव ।दयावृष्टि बिन भूप की, पाते हैं सब जिव ॥
558 अति दुःखद है सधनता, रहने से धनहीन ।यदि अन्यायी राज के, रहना पड़े अधीन ॥
559 यदि राजा शासन करे, राजधर्म से चूक ।पानी बरसेगा नहीं, ऋतु में बादल चूक ॥
560 षटकर्मी को स्मृति नहीं, दूध न देगी गाय ।यदि जन-रक्षक भूप से, रक्षा की नहिं जाय ॥

अध्याय 57. भयकारी कर्म न करना

561 भूप वही जो दोष का, करके उचित विचार ।योग्य दण्ड से इस तरह, फिर नहिं हो वह कार ॥
562 राजश्री चिरकाल यदि, रखना चाहें साथ ।दिखा दण्ड की उग्रता, करना मृदु आघात ॥
563 यदि भयकारी कर्म कर, करे प्रजा को त्रस्त ।निश्चय जल्दी क्रूर वह, हो जावेगा अस्त ॥
564 जिस नृप की दुष्कीर्ति हो, 'राजा है अति क्रूर' ।अल्प आयु हो जल्द वह, होगा नष्ट ज़रूर ॥
565 अप्रसन्न जिसका वदन, भेंट नहीं आसान ।ज्यों अपार धन भूत-वश, उसका धन भी जान ॥
566 कटु भाषी यदि हो तथा, दया-दृष्टि से हीन ।विपुल विभव नृप का मिटे, तत्क्षण हो स्थितिहीन ॥
567 कटु भाषण नृप का तथा, देना दण्ड अमान ।शत्रु-दमन की शक्ति को, घिसती रेती जान ॥
568 सचिवों की न सलाह ले, फिर होने पर कष्ट ।आग-बबूला नृप हुआ, तो श्री होगी नष्ट ॥
569 दुर्ग बनाया यदि नहीं, रक्षा के अनुरूप ।युद्ध छिड़ा तो हकबका, शीघ्र मिटे वह भूप ॥
570 मूर्खों को मंत्री रखे, यदि शासक बहु क्रूर ।उनसे औ' नहिं भूमि को, भार रूप भरपूर ॥

अध्याय 58.दया-दृष्टि

571 करुणा रूपी सोहती, सुषमा रही अपार ।नृप में उसके राजते, टिकता है संसार ॥
572 करुणा से है चल रहा, सांसारिक व्यवहार ।जो नर उससे रहित है, केवल भू का भार ॥

573 मेल न हो तो गान से, तान करे क्या काम ।दया न हो तो दृष्टि में, दृग आये क्या काम ॥
574 करुणा कलित नयन नहीं, समुचित सीमाबद्ध ।तो क्या आवें काम वे, मुख से रह संबन्ध ॥
575 आभूषण है नेत्र का, करुणा का सद्भाव ।उसके बिन जाने उसे, केवल मुख पर घाव ॥
576 रहने पर भी आँख के, जिसके है नहिं आँख ।यथा ईख भू में लगी, जिसके भी हैं आँख ॥
577 आँखहीन ही हैं मनुज, यदि न आँख का भाव ।आँखयुक्त में आँख का, होता भी न अभाव ॥
578 हानि बिना निज धर्म की, करुणा का व्यवहार ।जो कर सकता है उसे, जग पर है अधिकार ॥
579 अपनी क्षति भी जो करे, उसपर करुणा-भाव ।धारण कर, करना क्षमा, नृप का श्रेष्ठ स्वभाव ॥
580 देख मिलाते गरल भी, खा जाते वह भोग ।वाँछनीय दाक्षिण्य के, इच्छुक हैं जो लोग ॥

अध्याय 59. गुप्तचर-व्यवस्था

581 जो अपने चर हैं तथा, नीतिशास्त्र विख्यात ।ये दोनों निज नेत्र हैं, नृप को होना ज्ञात ॥
582 सब पर जो जो घटित हों, सब बातें सब काल ।राजधर्म है जानना, चारों से तत्काल ॥
583 बात चरों से जानते, आशय का नहिं ज्ञान ।तो उस नृप की विजय का, मार्ग नहीं है आन ॥
584 राजकर्मचारी, स्वजन, तथा शत्रु जो वाम ।सब के सब को परखना, रहा गुप्तचर-काम ॥
585 रूप देख कर शक न हो, आँख हुई, निर्भीक ।कहीं कहे नहिं मर्म को, सक्षम वह चर ठीक ॥
586 साधु वेष में घुस चले, पता लगाते मर्म ।फिर कुछ भी हो चुप रहे, यही गुप्तचर-कर्म ॥

downloaded from www.pmlogy.com

587 भेद लगाने में चतुर, फिर जो बातें ज्ञात ।उनमें संशयरहित हो, वही भेदिया ख्यात ॥
588 पता लगा कर भेद का, लाया यदि इक चार ।भेद लगा फिर अन्य से, तुलना कर स्वीकार ॥
589 चर चर को जाने नहीं, यों कर शासन-कर्म ।सत्य मान, जब तीन चर, कहें एक सा मर्म ॥
590 खुले आम जासूस का, करना मत सम्मान ।अगर किया तो भेद को, प्रकट किया खुद जान ॥

अध्याय 60. उत्साहयुक्तता

591 धनी कहाने योग्य है, यदि हो धन उत्साह ।उसके बिन यदि अन्य धन, हो तो क्या परवाह ॥
592 एक स्वत्व उत्साह है, स्थायी स्वत्व ज़रूर ।अस्थायी रह अन्य धन, हो जायेंगे दूर ॥
593 रहता जिनके हाथ में, उमंग का स्थिर वित्त ।'वित्त गया' कहते हुए, ना हों अधीर-चित्त ॥
594 जिस उत्साही पुरुष का, अचल रहे उत्साह ।वित्त चले उसके यहाँ, पूछ-ताछ कर राह ॥
595 जलज-नाल उतनी बड़ी, जितनी जल की थाह ।नर होता उतना बड़ा, जितना हो उत्साह ॥
596 जो विचार मन में उठें, सब हों उच्च विचार ।यद्यपि सिद्ध न उच्चता, विफल न वे सुविचार ॥
597 दुर्गति में भी उद्यमी, होते नहीं अधीर ।घायल भी शर-राशि से, गज रहता है धीर ॥
598 'हम तो हैं इस जगत में, दानी महा धुरीण' ।कर सकते नहिं गर्व यों, जो हैं जोश-विहीन ॥
599 यद्यपि विशालकाय है, तथा तेज़ हैं दांत ।डरता है गज बाघ से, होने पर आक्रांत ॥
600 सच्ची शक्ति मनुष्य की, है उत्साह अपार ।उसके बिन नर वृक्ष सम, केवल नर आकार ॥

अध्याय 61. आलस्यहीनता

601 जब तम से आलस्य के, आच्छादित हो जाय ।अक्षय दीप कुटुंब का, मंद मंद बुझ जाय ॥
602 जो चाहें निज वंश का, बना रहे उत्कर्ष ।नाश करें आलस्य का, करते उसका धर्ष ॥
603 गोद लिये आलस्य को, जो जड़ करे विलास ।होगा उसके पूर्व ही, जात-वंश का नाश ॥
604 जो सुस्ती में मग्न हों, यत्न बिना सुविशेष ।तो उनका कुल नष्ट हो, बढ़ें दोष निःशेष ॥
605 दीर्घसूत्रता, विस्मरण, सुस्ती, निद्रा-चाव ।जो जन चाहें डूबना, चारों हैं प्रिय नाव ॥
606 सार्वभौम की श्री स्वयं, चाहे आवे पास ।तो भी जो हैं आलसी, पावें नहिं फल ख़ास ॥
607 सुस्ती-प्रिय बन, यत्न सुठि, करते नहिं जो लोग ।डांट तथा उपहास भी, सुनते हैं वे लोग ॥
608 घर कर ले आलस्य यदि, रह कुलीन के पास ।उसके रिपु के वश उसे, बनायगा वह दास ॥
609 सुस्ती-पालन बान का, कर देगा यदि अंत ।वंश और पुरुषार्थ में, लगे दोष हों अंत ॥
610 क़दम बढ़ा कर विष्णु ने, जिसे किया था व्याप्त ।वह सब आलसहीन नृप, करे एकदम प्राप्त ॥

अध्याय 62. उद्यमशीलता

611 दुष्कर यह यों समझकर, होना नहीं निरास ।जानो योग्य महानता, देगा सतत प्रयास ॥
612 ढीला पड़ना यत्न में, कर दो बिलकुल त्याग ।त्यागेंगे जो यत्न को, उन्हें करे जग त्याग ॥
613 यत्नशीलता जो रही, उत्तम गुणस्वरूप ।उसपर स्थित है श्रेष्ठता, परोपकार स्वरूप ॥
614 यों है उद्यमरहित का, करना परोपकार ।कोई कायर व्यर्थ ज्यों, चला रहा तलवार ॥
615 जिसे न सुख की चाह है, कर्म-पूर्ति है चाह ।स्तंभ बने वह थामता, मिटा बन्धुजन-आह ॥
616 बढ़ती धन-संपत्ति की, कर देता है यत्न ।दारिद्रय को घुसेड़ कर, देता रहे अयत्न ॥
617 करती है आलस्य में, काली ज्येष्ठा वास ।यत्नशील के यत्न में, कमला का है वास ॥
618 यदि विधि नहिं अनुकूल है, तो न किसी का दोष ।खूब जान ज्ञातव्य को, यत्न न करना दोष ॥
619 यद्यपि मिले न दैववश, इच्छित फल जो भोग्य ।श्रम देगा पारिश्रमिक, निज देह-श्रम-योग्य ॥
620 विधि पर भी पाते विजय, जो हैं उद्यमशील ।सतत यत्न करते हुए, बिना किये कुछ ढील ॥

अध्याय 63. संकट में अनाकुलता

621 जब दुख-संकट आ पड़े, तब करना उल्लास ।तत्सम कोई ना करे, भिड़ कर उसका नाश ॥
622 जो आवेगा बाढ़ सा, बुद्धिमान को कष्ट ।मनोधैर्य से सोचते, हो जावे वह नष्ट ॥
623 दुख-संकट जब आ पड़े, दुखी न हो जो लोग ।दुख-संकट को दुख में, डालेंगे वे लोग ॥
624 ऊबट में भी खींचते, बैल सदृष जो जाय ।उसपर जो दुख आ पड़े, उस दुख पर दुख आय ॥
625 दुख निरंतर हो रहा, फिर भी धैर्य न जाय ।ऐसों को यदि दुख हुआ, उस दुख पर दुख आय ॥
626 धन पा कर, आग्रह सहित, जो नहिं करते लोभ ।धन खो कर क्या खिन्न हो, कभी करेंगे क्षोभ ॥
627 देह दुख का लक्ष्य तो, होती है यों जान ।क्षुब्ध न होते दुख से, जो हैं पुरुष महान ॥
628 विधिवश होता दुख है, यों जिसको है ज्ञान ।तथा न सुख की चाह भी, दुखी न हो वह प्राण ॥
629 सुख में सुख की चाह से, जो न करेगा भोग ।दुःखी होकर दुःख में, वह न करेगा शोक ॥
630 दुख को भी सुख सदृश ही, यदि ले कोई मान ।तो उसको उपलब्ध हो, रिपु से मानित मान ॥

अध्याय 63. संकट में अनाकुलता

621 जब दुख-संकट आ पड़े, तब करना उल्लास ।तत्सम कोई ना करे, भिड़ कर उसका नाश ॥

downloaded from www.pmlogy.com

622 जो आवेगा बाढ़ सा, बुद्धिमान को कष्ट ।मनोधैर्य से सोचते, हो जावे वह नष्ट ॥
623 दुख-संकट जब आ पड़े, दुखी न हो जो लोग ।दुख-संकट को दुख में, डालेंगे वे लोग ॥
624 ऊबट में भी खींचते, बैल सदृष जो जाय ।उसपर जो दुख आ पड़े, उस दुख पर दुख आय ॥
625 दुख निरंतर हो रहा, फिर भी धैर्य न जाय ।ऐसों को यदि दुख हुआ, उस दुख पर दुख आय ॥
626 धन पा कर, आग्रह सहित, जो नहिं करते लोभ ।धन खो कर क्या खिन्न हो, कभी करेंगे क्षोभ ॥
627 देह दुख का लक्ष्य तो, होती है यों जान ।क्षुब्ध न होते दुख से, जो हैं पुरुष महान ॥
628 विधिवश होता दुख है, यों जिसको है ज्ञान ।तथा न सुख की चाह भी, दुखी न हो वह प्राण ॥
629 सुख में सुख की चाह से, जो न करेगा भोग ।दुःखी होकर दुःख में, वह न करेगा शोक ॥
630 दुख को भी सुख सदृश ही, यदि ले कोई मान ।तो उसको उपलब्ध हो, रिपु से मानित मान ॥

अध्याय 64. अमात्य

631 साधन, काल, उपाय औ', कार्यसिद्धि दुस्साध्य ।इनका श्रेष्ठ विधान जो, करता वही अमात्य ॥
632 दृढ़ता, कुल-रक्षण तथा, यत्न, सुशिक्षा, ज्ञान ।पाँच गुणों से युक्त जो, वही अमात्य सुजान ॥
633 फूट डालना शत्रु में, पालन मैत्री-भाव ।लेना बिछुड़ों को मिला,योग्य आमात्य-स्वभाव ॥
634 विश्लेषण करता तथा, परख कार्य को साध्य ।दृढ़ता पूर्वक मंत्रणा, देता योग्य अमात्य ॥
635 धर्म जान, संयम सहित, ज्ञानपूर्ण कर बात ।सदा समझता शक्ति को, साथी है वह ख्यात ॥
636 शास्त्र जानते जो रहा, सूक्ष्म बुद्धि का भौन ।उसका करते सामना, सूक्ष्म प्रश्न अति कौन ॥
637 यद्यपि विधियों का रहा, शास्त्र रीति से ज्ञान ।फिर भी करना चाहिये, लोकरीति को जान ॥
638 हत्या कर उपदेश की, खुद हो अज्ञ नरेश ।फिर भी धर्म अमात्य का, देना दृढ़ उपदेश ॥
639 हानि विचारे निकट रह, यदि दुर्मंत्री एक ।उससे सत्तर कोटि रिपु, मानों बढ़ कर नेक ॥
640 यद्यपि क्रम से सोच कर, शुरू करे सब कर्म ।जिनमें दृढ़ क्षमता नहीं, करें अधूरा कर्म ॥

अध्याय 66. कर्म-शुद्धि

651 साथी की परिशुद्धता, दे देती है प्रेय ।कर्मों की परिशुद्धता, देती है सब श्रेय ॥
652 सदा त्यागना चाहिये, जो हैं ऐसे कर्म ।कीर्ति-लाभ के साथ जो, देते हैं नहिं धर्म ॥
653 'उन्नति करनी चाहिये', यों जिनको हो राग ।निज गौरव को हानिकर, करें कर्म वे त्याग ॥
654 यद्यपि संकट-ग्रस्त हों, जिनका निश्चल ज्ञान ।निंद्य कर्म फिर भी सुधी, नहीं करेंगे जान ॥
655 जिससे पश्चाताप हो, करो न ऐसा कार्य ।अगर किया तो फिर भला, ना कर ऐसा कार्य ॥
656 जननी को भूखी सही, यद्यपि देखा जाय ।सज्जन-निन्दित कार्य को, तो भी किया न जाय ॥
657 दोष वहन कर प्राप्त जो, सज्जन को ऐश्वर्य ।उससे अति दारिद्रय ही, सहना उसको वर्य ॥
658 वर्ज किये बिन वर्ज्य सब, जो करता दुष्कर्म ।कार्य-पूर्ति ही क्यों न हो, पीड़ा दें वे कर्म ॥
659 रुला अन्य को प्राप्त सब, रुला उसे वह जाय ।खो कर भी सत्संपदा, पीछे फल दे जाय ॥
660 छल से धन को जोड़ कर, रखने की तदबीर ।कच्चे मिट्टी कलश में, भर रखना ज्यों नीर ॥

अध्याय 67. कर्म में दृढ़ता

661 दृढ़ रहना ही कर्म में, मन की दृढ़ता जान ।दृढ़ता कहलाती नहीं, जो है दृढ़ता आन ॥
662 दुष्ट न करना, यदि हुआ, तो फिर न हो अधीर ।मत यह है नीतिज्ञ का, दो पथ मानें मीर ॥
663 प्रकट किया कर्मान्त में, तो है योग्य सुधीर ।प्रकट किया यदि बीच में, देगा अनन्त पीर ॥
664 कहना तो सब के लिये, रहता है आसान ।करना जो जैसा कहे, है दुस्साध्य निदान ॥
665 कीर्ति दिला कर सचित को, कर्म-निष्ठता-बान ।नृप पर डाल प्रभाव वह, पावेगी सम्मान ॥
666 संकल्पित सब वस्तुएँ, यथा किया संकल्प ।संकल्पक का जायगा, यदि वह दृढ़-संकल्प ॥
667 तिरस्कार करना नहीं, छोटा क़द अवलोक ।चलते भारी यान में, अक्ष-आणि सम लोग ॥
668 सोच समझ निश्चय किया, करने का जो कर्म ।हिचके बिन अविलम्ब ही, कर देना वह कर्म ॥
669 यद्यपि होगा बहुत दुख, दृढ़ता से काम ।सुख-फल दायक ही रहा, जिसका शुभ परिणाम ॥
670 अन्य विषय में सदृढ़ता, रखते सचिव सुजान ।यदि दृढ़ता नहिं कर्म की, जग न करेगा मान ॥

अध्याय 68. कर्म करने की रीति

671 निश्चय कर लेना रहा, विचार का परिणाम ।हानि करेगा देर से, रुकना निश्चित काम ॥
672 जो विलम्ब के योग्य है, करो उसे सविलम्ब ।जो होना अविलम्ब ही, करो उसे अविलम्ब ॥
673 जहाँ जहाँ वश चल सके, भलाकार्य हो जाय ।वश न चले तो कीजिये, संभव देख उपाय ॥
674 कर्म-शेष रखना तथा, शत्रु जनों में शेष ।अग्नि-शेष सम ही करें, दोनों हानि विशेष ॥
675 धन साधन अवसर तथा, स्थान व निश्चित कर्म ।पाँचों पर भ्रम के बिना, विचार कर कर कर्म ॥
676 साधन में श्रम, विघ्न भी, पूरा हो जब कर्म ।प्राप लाभ कितना बड़ा, देख इन्हें कर कर्म ॥
677 विधि है कर्मी को यही, जब करता है कर्म ।उसके अति मर्मज्ञ से, ग्रहण करे वह मर्म ॥

downloaded from www.pmlogy.com

678 एक कर्म करते हुए, और कर्म हो जाय ।मद गज से मद-मत्त गज, जैसे पकड़ा जाय ॥
679 करने से हित कार्य भी, मित्रों के उपयुक्त ।शत्रु जनों को शीघ्र ही, मित्र बनाना युक्त ॥
680 भीति समझकर स्वजन की, मंत्री जो कमज़ोर ।संधि करेंगे नमन कर, रिपु यदि है बरज़ोर ॥

अध्याय 69. दूत

681 स्नेहशीलता उच्चकुल, नृप-इच्छित आचार ।राज-दूत में चाहिये, यह उत्तम संस्कार ॥
682 प्रेम बुद्धिमानी तथा, वाक्शक्ति सविवेक ।ये तीनों अनिवार्य हैं, राजदूत को एक ॥
683 रिपु-नृप से जा जो करे, निज नृप की जय-बात ।लक्षण उसका वह रहे, विज्ञों में विख्यात ॥
684 दूत कार्य हित वह चले, जिसके रहें अधीन ।शिक्षा अनुसंधानयुत, बुद्धि, रूप ये तीन ॥
685 पुरुष वचन को त्याग कर, करे समन्वित बात ।लाभ करे प्रिय बोल कर, वही दूत है ज्ञात ॥
686 नीति सीख हर, हो निडर, कर प्रभावकर बात ।समयोचित जो जान ले, वही दूत है ज्ञात ॥
687 स्थान समय कर्तव्य भी, इनका कर सुविचार ।बात करे जो सोच कर, उत्तम दूत निहार ॥
688 शुद्ध आचरण संग-बल, तथा धैर्य ये तीन ।इनके ऊपर सत्यता, लक्षण दूत प्रवीण ॥
689 नृप को जो संदेशवह, यों हो वह गुण-सिद्ध ।भूल चूक भी निंद्य वच, कहे न वह दृढ़-चित्त ॥
690 चाहे हो प्राणान्त भी, निज नृप का गुण-गान ।करता जो भय के बिना, दूत उसी को जान ॥

अध्याय 70. राजा से योग्य व्यवहार

691 दूर न पास न रह यथा, तापों उसी प्रकार ।भाव-बदलते भूप से, करना है व्यवहार ॥
692 राजा को जो प्रिय रहें, उनकी हो नहिं चाह ।उससे स्थायी संपदा, दिलायगा नरनाह ॥
693 यदि बचना है तो बचो, दोषों से विकराल ।समाधान सभव नहीं, शक करते नरपाल ॥
694 कानाफूसी साथ ही, हँसी अन्य के साथ ।महाराज के साथ में, छोड़ो इनका साथ ॥
695 छिपे सुनो मत भेद को, पूछो मत 'क्या बात' ।प्रकट करे यदि नृप स्वयं, तो सुन लो वह बात ॥
696 भाव समझ समयज्ञ हो, छोड़ घृणित सब बात ।नृप-मनचाहा ढंग से, कह आवश्यक बात ॥
697 नृप से वांछित बात कह, मगर निरर्थक बात ।पूछें तो भी बिन कहे, सदा त्याग वह बात ॥
698 'छोटे हैं, ये बन्धु हैं', यों नहिं कर अपमान ।किया जाय नरपाल का, देव तुल्य सम्मान ॥
699 'नृप के प्रिय हम बन गये', ऐसा कर सुविचार ।जो हैं निश्चल बुद्धि के, करें न अप्रिय कार ॥
700 'चिरपरिचित हैं', यों समझ, नृप से दुर्व्यवहार ।करने का अधिकार तो, करता हानि अपार ॥

अध्याय 71. भावज्ञता

701 बिना कहे जो जान ले, मुख-मुद्रा से भाव ।सदा रहा वह भूमि का, भूषण महानुभाव ॥
702 बिना किसी संदेह के, हृदयस्थित सब बात ।जो जाने मानो उसे, देव तुल्य साक्षात ॥
703 मनोभाव मुख-भाव से, जो जानता निहार ।अंगों में कुछ भी दिला, करो उसे स्वीकार ॥
704 बिना कहे भावज्ञ हैं, उनके सम भी लोग ।आकृति में तो हैं मगर, रहें भिन्न वे लोग ॥
705 यदि नहिं जाना भाव को, मुख-मुद्रा अवलोक ।अंगों में से आँख का, क्या होगा उपयोग ॥
706 बिम्बित करता स्फटिक ज्यों, निकट वस्तु का रंग ।मन के अतिशय भाव को, मुख करता बहिरंग ॥
707 मुख से बढ़ कर बोधयुत, है क्या वस्तु विशेष ।पहले वह बिम्बित करे, प्रसन्नता या द्वेष ॥
708 बीती समझे देखकर, यदि ऐसा नर प्राप्त ।अभिमुख उसके हो खड़े, रहना है पर्याप्त ॥
709 बतलायेंगे नेत्र ही, शत्रु-मित्र का भाव ।अगर मिलें जो जानते, दृग का भिन्न स्वभाव ॥
710 जो कहते हैं, 'हम रहे', सूक्ष्म बुद्धि से धन्य ।मान-दण्ड उनका रहा, केवल नेत्र, न अन्य ॥

अध्याय 72. सभा-ज्ञान

711 शब्द-शक्ति के ज्ञानयुत, जो हैं पावन लोग ।समझ सभा को, सोच कर, करना शब्द-प्रयोग ॥
712 शब्दों की शैली समझ, जिनको है अधिकार ।सभासदों का देख रुख, बोलें स्पष्ट प्रकार ॥
713 उद्यत हो जो बोलने, सभा-प्रकृति से अज्ञ ।भाषण में असमर्थ वे, शब्द-रीति से अज्ञ ॥
714 प्राज्ञों के सम्मुख रहो, तुम भी प्राज्ञ सुजान ।मूर्खों के सम्मुख बनो, चून सफेद समान ॥
715 भले गुणों में है भला, ज्ञानी गुरुजन मध्य ।आगे बढ़ बोलें नहीं, ऐसा संयम पथ्य ॥
716 विद्वानों के सामने, जिनका विस्तृत ज्ञान ।जो पा गया कलंक, वह, योग-भ्रष्ट समान ॥
717 निपुण पारखी शब्द के, जो हैं, उनके पास ।विद्वत्ता शास्त्रज्ञ की, पाती खूब प्रकाश ॥
718 बुद्धिमान के सामने, जो बोलता सुजान ।क्यारी बढ़ती फसल की, यथा सींचना जान ॥
719 सज्जन-मण्डल में करें, जो प्रभावकर बात ।मूर्ख-सभा में भूल भी, करें न कोई बात ॥
720 यथा उँडेला अमृत है, आंगन में अपवित्र ।भाषण देना है वहाँ, जहाँ न गण हैं मित्र ॥

अध्याय 73. सभा में निर्भीकता

721 शब्द शक्ति के ज्ञानयुत, जो जन हैं निर्दोष ।प्राज्ञ-सभा में ढब समझ, करें न शब्द सदोष ॥
722 जो प्रभावकर ढ़ंग से, आर्जित शास्त्र-ज्ञान ।प्रगटे विज्ञ-समझ, वह, विज्ञों में विद्वान ॥

downloaded from www.pmlogy.com

723 शत्रु-मध्य मरते निडर, मिलते सुलभ अनेक ।सभा-मध्य भाषण निडर, करते दुर्लभ एक ॥
724 विज्ञ-मध्य स्वज्ञान की, कर प्रभावकर बात ।अपने से भी विज्ञ से, सीखो विशेष बात ॥
725 सभा-मध्य निर्भीक हो, उत्तर देने ठीक ।शब्द-शास्त्र, फिर ध्यान से, तर्क-शास्त्र भी सीख ॥
726 निडर नहीं हैं जो उन्हें, खाँडे से क्या काम ।सभा-भीरु जो हैं उन्हें, पोथी से क्या काम ॥
727 सभा-भीरु को प्राप्त है, जो भी शास्त्र-ज्ञान ।कायर-कर रण-भूमि में, तीक्षण खड्ग समान ॥
728 रह कर भी बहु शास्त्रविद, है ही नहिं उपयोग ।विज्ञ-सभा पर असर कर, कह न सके जो लोग ॥
729 जो होते भयभीत हैं, विज्ञ-सभा के बीच ।रखते शास्त्रज्ञान भी, अनपढ़ से हैं नीच ॥
730 जो प्रभावकर ढ़ंग से, कह न सका निज ज्ञान ।सभा-भीरु वह मृतक सम, यद्यपि है सप्राण ॥

अध्याय 74. राष्ट्र

731 अक्षय उपज सुयोग्य जन, ह्रासहीन धनवान ।मिल कर रहते हैं जहाँ, है वह राष्ट्र महान ॥
732 अति धन से कमनीय बन, नाशहीनता युक्त ।प्रचुर उपज होती जहाँ, राष्ट्र वही है उक्त ॥
733 एक साथ जब आ पड़ें, तब भी सह सब भार ।देता जो राजस्व सब, है वह राष्ट्र अपार ॥
734 भूख अपार न है जहाँ, रोग निरंतर है न ।और न नाशक शत्रु भी, श्रेष्ठ राष्ट्र की सैन ॥
735 होते नहीं, विभिन्न दल, नाशक अंतर-वैर ।नृप-कंटक खूनी नहीं, वही राष्ट्र है, ख़ैर ॥
736 नाश न होता, यदि हुआ, तो भी उपज यथेष्ट ।जिसमें कम होती नहीं, वह राष्ट्रों में श्रेष्ठ ॥
737 कूप सरोवर नद-नदी, इनके पानी संग ।सुस्थित पर्वत सुदृढ़ गढ़, बनते राष्ट्र-सुअंग ॥
738 प्रचुर उपज, नीरोगता, प्रसन्नता, ऐश्वर्य ।और सुरक्षा, पाँच हैं, राष्ट्र-अलंकृति वर्य ॥
739 राष्ट्र वही जिसकी उपज, होती है बिन यत्न ।राष्ट्र नहीं वह यदि उपज, होती है कर यत्न ॥
740 उपर्युक्त साधन सभी, होते हुए अपार ।प्रजा-भूप-सद्भाव बिन, राष्ट्र रहा बेकार ॥

अध्याय 75. दुर्ग

741 आक्रामक को दुर्ग है, साधन महत्वपूर्ण ।शरणार्थी-रक्षक वही, जो रिपु-भय से चूर्ण ॥
742 मणि सम जल, मरु भूमि औ', जंगल घना पहाड़ ।कहलाता है दुर्ग वह, जब हो इनसे आड़ ॥
743 उँचा, चौड़ा और दृढ़, अगम्य भी अत्यंत ।चारों गुणयुत दुर्ग है, यों कहते हैं ग्रन्थ ॥
744 अति विस्तृत होते हुए, रक्षणीय थल तंग ।दुर्ग वही जो शत्रु का, करता नष्ट उमंग ॥
745 जो रहता दुर्जेय है, रखता यथेष्ट अन्न ।अंतरस्थ टिकते सुलभ, दुर्ग वही संपन्न ॥
746 कहलाता है दुर्ग वह, जो रख सभी पदार्थ ।देता संकट काल में, योग्य वीर रक्षार्थ ॥
747 पिल पड़ कर या घेर कर, या करके छलछिद्र ।जिसको हथिया ना सके, है वह दुर्ग विचित्र ॥
748 दुर्ग वही यदि चतुर रिपु, घेरा डालें घोर ।अंतरस्थ डट कर लडें, पावें जय बरज़ोर ॥
749 शत्रु-नाश हो युद्ध में, ऐसे शस्त्र प्रयोग ।करने के साधन जहाँ, है गढ़ वही अमोघ ॥
750 गढ़-रक्षक रण-कार्य में, यदि हैं नहीं समर्थ ।अत्युत्तम गढ़ क्यों न हो, होता है वह व्यर्थ ॥

अध्याय 76. वित्त-साधन-विधि

751 धन जो देता है बना, नगण्य को भी गण्य ।उसे छोड़ कर मनुज को, गण्य वस्तु नहिं अन्य ॥
752 निर्धन लोगो का सभी, करते हैं अपमान ।धनवनों का तो सभी, करते हैं सम्मन ॥
753 धनरूपी दीपक अमर, देता हुआ प्रकाश ।मनचाहा सब देश चल, करता है नम-नाश ॥
754 पाप-मार्ग को छोड़कर, न्याय रीति को जान ।अर्जित धन है सुखद औ', करता धर्म प्रदान ॥
755 दया और प्रिय भाव से, प्राप्त नहीं जो वित्त ।जाने दो उस लाभ को, जमे न उसपर चित्त ॥
756 धन जिसका वारिस नहीं, धन चूँगी से प्राप्त ।विजित शत्रु का भेंट-धन, धन हैं नृप हित आप्त ॥
757 जन्माता है प्रेम जो, दयारूप शिशु सुष्ट ।पालित हो धन-धाय से, होता है बह पुष्ट ॥
758 निज धन रखते हाथ में, करना कोई कार्य ।गिरि पर चढ़ गज-समर का, ईक्षण सदृश विचार्य ॥
759 शत्रु-गर्व को चिरने, तेज शास्त्र जो सिद्ध ।धन से बढ़ कर है नहीं, सो संग्रह कर वित्त ॥
760 धर्म, काम दोनों सुलभ, मिलते हैं इक साथ ।न्यायार्जित धन प्रचुर हो, लगता जिसके हाथ ॥

अध्याय 77. सैन्य-माहात्म्य

761 सब अंगों से युक्त हो, क्षत से जो निर्भीक ।जयी सैन्य है भूप के, ऐश्वर्यों में नीक ॥
762 छोटा फिर भी विपद में, निर्भय सहना चोट ।यह साहस संभव नहीं, मूल सैन्य को छोड़ ॥
763 चूहे-शत्रु समुद्र सम, गरजें तो क्या कष्ट ।सर्पराज फुफकारते, होते हैं सब नष्ट ॥
764 अविनाशी रहते हुए, छल का हो न शिकार ।पुश्तैनी साहस जहाँ, वही सैन्य निर्धार ॥
765 क्रोधिक हो यम आ भिड़े, फिर भी हो कर एक ।जो समर्थ मुठ-भेड़ में, सैन्य वही है नेक ॥
766 शौर्य, मान, विश्वस्तता, करना सद्व्यवहार ।ये ही सेना के लिये, रक्षक गुण हैं चार ॥
767 चढ़ आने पर शत्रु के, व्यूह समझ रच व्यूह ।रोक चढ़ाई खुद चढ़े, यही सैन्य की रूह ॥
768 यद्यपि संहारक तथा, सहन शक्ति से हीन ।तड़क-भड़क से पायगी, सेना नाम धुरीण ॥

downloaded from www.pmlogy.com

769 लगातार करना घृणा, क्षय होना औ' दैन्य ।जिसमें ये होते नहीं, पाता जय वह सैन्य ॥
770 रखने पर भी सैन्य में, अगणित स्थायी वीर ।स्थायी वह रहता नहीं, बिन सेनापति धीर ॥

अध्याय 78. सैन्य-साहस

771 डटे रहो मत शत्रुओ, मेरे अधिप समक्ष ।डट कर कई शिला हुए, मेरे अधिप समक्ष ॥
772 वन में शश पर जो लगा, धरने से वह बाण ।गज पर चूके भाल को, धरने में है मान ॥
773 निर्दय साहस को कहें, महा धीरता सार ।संकट में उपकार है, उसकी तीक्षण धार ॥
774 कर-भाला गज पर चला, फिरा खोजते अन्य ।खींच भाल छाती लगा, हर्षित हुआ सुधन्य ॥
775 क्रुद्ध नेत्र यदि देख कर, रिपु का भाल-प्रहार ।झपकेंगे तो क्या नहीं, वह वीरों को हार ॥
776 'गहरा घाव लगा नहीं', ऐसे दिन सब व्यर्थ ।बीते निज दिन गणन कर, यों मानता समर्थ ॥
777 जग व्यापी यश चाहते, प्राणों की नहिं चाह ।ऐसों का धरना कड़ा, शोभाकर है, वाह ॥
778 प्राण-भय-रहित वीर जो, जब छिड़ता है युद्ध ।साहस खो कर ना रुकें, नृप भी रोकें क्रुद्ध ॥
779 प्रण रखने हित प्राण भी, छोड़ेंगे जो चण्ड ।कौन उन्हें प्रण-भंग का, दे सकता है दण्ड़ ॥
780 दृग भर आये भूप के, सुन जिसका देहांत ।ग्रहण योग्य है माँग कर, उसका जैसा अंत ॥

अध्याय 79. मैत्री

781 करने को मैत्री सदृश, कृति है कौन महान ।दुर्लभ-रक्षक शत्रु से, उसके कौन समान ॥
782 प्राज्ञ मित्रता यों बढ़े, यथा दूज का चाँद ।मूर्ख मित्रता यों घटे, ज्यों पूनो के बाद ॥
783 करते करते अध्ययन, अधिक सुखद ज्यों ग्रन्थ ।परिचय बढ़ बढ़ सुजन की, मैत्री दे आनन्द ॥
784 हँसी-खेल करना नहीं, मैत्री का उपकार ।आगे बढ़ अति देख कर, करना है फटकार ॥
785 परिचय औ' संपर्क की, नहीं ज़रूरत यार ।देता है भावैक्य ही, मैत्री का अधिकार ॥
786 केवल मुख खिल जाय तो, मैत्री कहा न जाय ।सही मित्रता है वही, जिससे जी खिल जाय ॥
787 चला सुपथ पर मित्र को, हटा कुपथ से दूर ।सह सकती दुख विपद में, मैत्री वही ज़रूर ॥
788 ज्यों धोती के खिसकते, थाम उसे ले हस्त ।मित्र वही जो दुःख हो, तो झट कर दे पस्त ॥
789 यथा शक्ति सब काल में, भेद बिना उपकार ।करने की क्षमता सुदृढ़, है मैत्री-दरबार ॥
790 'ऐसे ये मेरे लिये', 'मैं हूँ इनका यार' ।मैत्री की महिमा गयी, यों करते उपचार ॥

अध्याय 80. मैत्री की परख

791 जाँचे बिन मैत्री सदृश, हानि नहीं है अन्य ।मित्र बना तो छूट नहीं, जिसमें वह सौजन्य ॥
792 परख परख कर जो नहीं, किया गया सौहार्द ।मरण दिलाता अन्त में, यों, करता वह आर्त ॥
793 गुण को कुल को दोष को, जितने बन्धु अनल्प ।उन सब को भी परख कर, कर मैत्री का कल्प ॥
794 जो लज्जित बदनाम से, रहते हैं कुलवान ।कर लो उनकी मित्रता, कर भी मूल्य-प्रदान ॥
795 झिड़की दे कर या रुला, समझावे व्यवहार ।ऐसे समर्थ को परख, मैत्री कर स्वीकार ॥
796 होने पर भी विपद के, बड़ा लाभ है एक ।मित्र-खेत सब मापता, मान-दंड वह एक ॥
797 मूर्खों के सौहार्द से, बच कर तजना साफ़ ।इसको ही नर के लिये, कहा गया है लाभ ॥
798 ऐसे कर्म न सोचिये, जिनसे घटे उमंग ।मित्र न हो जो दुख में, छोड़ जायगा संग ॥
799 विपद समय जो बन्धु जन, साथ छोड़ दें आप ।मरण समय भी वह स्मरण, दिल को देगा ताप ॥
800 निर्मल चरित्रवान की, मैत्री लेना जोड़ ।कुछ दे सही अयोग्य की, मैत्री देना छोड़ ॥

अध्याय 81. चिर-मैत्री

801 जो कुछ भी अधिकार से, करते हैं जन इष्ट ।तिरस्कार बिन मानना, मैत्री कहो धनिष्ठ ॥
802 हक्र से करना कार्य है, मैत्री का ही अंग ।फ़र्ज़ समझ सज्जन उसे, मानें सहित उमंग ॥
803 निज कृत सम जो मित्र का, साधिकार कृत काम ।यदि स्वीकृत होता नहीं, चिर-मैत्री क्या काम ॥
804 पूछे बिन हक मान कर, मित्र करे यदि कार्य ।वांछनीय गुण के लिये, मानें वह स्वीकार्य ॥
805 दुःखजनक यदि कार्य हैं, करते मित्र सुजान ।अति हक़ या अज्ञान से, यों करते हैं जान ॥
806 चिरपरिचित घन मित्र से, यद्यपि हुआ अनिष्ट ।मर्यादी छोडें नहीं, वह मित्रता धनिष्ठ ॥
807 स्नेही स्नेह-परंपरा, जो करते निर्वाह ।मित्र करे यदि हानि भी, तज़ें न उसकी चाह ॥
808 मित्र-दोष को ना सुनें, ऐसे मित्र धनिष्ठ ।मानें उस दिन को सफल, दोष करें जब इष्ट ॥
809 अविच्छिन्न चिर-मित्रता, जो रखते हैं यार ।उनका स्नेह तजें न जो, उन्हें करे जग प्यार ॥
810 मैत्री का गुण पालते, चिरपरिचित का स्नेह ।जो न तजें उस सुजन से, करें शत्रु भी स्नेह ॥

अध्याय 82. बुरी मैत्री

811 यद्यपि अतिशय मित्र सम, दिखते हैं गुणहीन ।बढ़ने से वह मित्रता, अच्छा यदि हो क्षीण ॥
812 पा या खो कर क्या हुआ, अयोग्य का सौहार्द ।जो मैत्री कर स्वार्थवश, तज दे जब नहिं स्वार्थ ॥
813 मित्र बने जो गणन कर, स्वार्थ-लाभ का मान ।धन-गाहक गणिका तथा, चोर एक सा जान ॥

downloaded from www.pmlogy.com

814 अनभ्यस्त हय युद्ध में, पटक चले ज्यों भाग ।ऐसों के सौहार्द से, एकाकी बड़भाग ॥
815 तुच्छ मित्रता विपद में, जो देती न सहाय ।ना होने में है भला, होने से भी, हाय ॥
816 अति धनिष्ठ बन मूर्ख का, हो जाने से इष्ट ।समझदार की शत्रुता, लाखों गुणा वरिष्ठ ॥
817 हास्य-रसिक की मित्रता, करने से भी प्राप्त ।भले बनें दस कोटि गुण, रिपु से जो हों प्राप्त ॥
818 यों असाध्य कह साध्य को, जो करता न सहाय ।चुपके से उस ढोंग की, मैत्री छोड़ी जाय ॥
819 कहना कुछ करना अलग, जिनकी है यह बान ।उनकी मैत्री खायगी, सपने में भी जान ॥
820 घर पर मैत्री पालते, सभा-मध्य धिक्कार ।जो करते वे तनिक भी, निकट न आवें, यार ॥

अध्याय 83. कपट-मैत्री

821 अंतरंग मैत्री नहीं, पर केवल बहिरंग ।अवसर पा वह पीटती, पकड़ निहाई ढ़ंग ।
822 बन्धु सदृश पर बन्धु नहिं, उनकी मैत्री-बान ।है परिवर्तनशील ही, नारी-चित्त समान ॥
823 सद्ग्रंथों का अध्ययन, यद्यपि किया अनेक ।शत्रु कभी होंगे नहीं, स्नेह-मना सविवेक ॥
824 मुख पर मधुर हँसी सहित, हृदय वैर से पूर ।ऐसे लोगों से डरो, ये हैं वंचक क्रूर ॥
825 जिससे मन मिलता नहीं, उसका सुन वच मात्र ।किसी विषय में मत समझ, उसे भरोसा पात्र ॥
826 यद्यपि बोलें मित्र सम, हितकर वचन गढ़ंत ।शत्रु-वचन की व्यर्थता, होती प्रकट तुरंत ॥
827 सूचक है आपत्ति का, धनुष नमन की बान ।सो रिपु-वचन-विनम्रता, निज हितकर मत जान ॥
828 जुड़े हाथ में शत्रु के, छिप रहता हथियार ।वैसी ही रिपु की रही, रुदन-अश्रु-जल-धार ॥
829 जो अति मैत्री प्रकट कर, मन में करता हास ।खुश कर मैत्री भाव से, करना उसका नाश ॥
830 शत्रु, मित्र जैसा बने, जब आवे यह काल ।मुख पर मैत्री प्रकट कर, मन से उसे निकाल ॥

अध्याय 84. मूढ़ता

831 किसको कहना मूढ़ता, जो है दारुण दाग ।हानिप्रद को ग्रहण कर, लाभप्रद का त्याग ॥
832 परम मूढ़ता मूढ़ में, जानो उसे प्रसिद्ध ।उन सब में आसक्ति हो, जो हैं कर्म निषिद्ध ॥
833 निर्दयता, निर्लज्जता, निर्विचार का भाव ।पोषण भी नहिं पोष्य का, ये हैं मूढ़ स्वभाव ॥
834 शास्त्रों का कर अध्यपन, अर्थ जानते गूढ़ ।शिक्षक भी, पर नहिं वशी, उनसे बडा न मूढ़ ॥
835 सात जन्म जो यातना, मिले नरक के गर्त ।मूढ़ एक ही में बना, लेने में सुसमर्थ ॥
836 प्रविधि-ज्ञान बिन मूढ़ यदि, शुरू करेगा काम ।वह पहनेगा हथकड़ी, बिगड़ेगा ही काम ॥
837 जम जाये तो प्रचुर धन, अगर मूढ़ के पास ।भोग करेंगे अन्य जन, परिजन तो उपवास ॥
838 लगना है संपत्ति का, एक मूढ़ के हस्त ।पागल का होना यथा, ताड़ी पी कर मस्त ॥
839 पीड़ा तो देती नहीं, जब होती है भंग ।सो मूढ़ों की मित्रता, है अति मधुर प्रसंग ॥
840 सुधी-सभा में मूढ़ का, घुसना है यों, खैर ।ज्यों रखना धोये बिना, स्वच्छ सेज पर पैर ॥

अध्याय 85. अहम्मन्य-मूढ़ता

841 सबसे बुरा अभाव है, सद्बुद्धि का अभाव ।दुनिया अन्य अभाव को, नहिं मानती अभाव ॥
842 बुद्धिहीन नर हृदय से, करता है यदि दान ।प्रातिग्राही का सुकृत वह, और नहीं कुछ जान ॥
843 जितनी पीड़ा मूढ़ नर, निज को देता आप ।रिपु को भी संभव नहीं, देना उतना ताप ॥
844 हीन-बुद्धि किसको कहें, यदि पूछोगे बात ।स्वयं मान 'हम हैं सुधी', भ्रम में पड़ना ज्ञात ॥
845 अपठित में ज्यों पठित का, व्यंजित करना भाव ।सुपठित में भी दोष बिन, जनमे संशय-भाध ॥
846 मिटा न कर निज दोष को, गोपन कर अज्ञान ।ढकना पट से गुहय को, अल्प बुद्धि की बान ॥
847 प्रकट करे मतिहीन जो, अति सहस्य की बात ।अपने पर खुद ही बड़ा, कर लेगा आघात ॥
848 समझाने पर ना करे, और न समझे आप ।मरण समय तक जीव वह, रहा रोग-अभिशाप ॥
849 समझाते नासमझ को, रहे नासमझ आप ।समझदार सा नासमझ, स्वयं दिखेगा आप ॥
850 जग जिसके अस्तित्व को, 'है' कह लेता मान ।जो न मानता वह रहा, जग में प्रेत समान ॥

अध्याय 86. विभेद

851 सब जीवों में फूट ही, कहते हैं बुध लोग ।अनमिल-भाव-अनर्थ का, पोषण करता रोग ॥
852 कोई अनमिल भाव से, कर्म करे यदि पोच ।अहित न करना है भला, भेद-भाव को सोच ॥
853 रहता है दुःखद बड़ा, भेद-भाव का रोग ।उसके वर्जन से मिले, अमर कीर्तिका भोग ॥
854 दुःखों में सबसे बड़ा, है विभेद का दुःख ।जब होता है नष्ट वह, होता सुख ही सुक्ख ॥
855 उठते देख विभेद को, हट कर रहे समर्थ ।उसपर कौन समर्थ जो, सोचे जय के अर्थ ॥
856 भेद-वृद्धि से मानता, मिलता है आनन्द ।जीवन उसका चूक कर, होगा नष्ट तुरन्त ॥
857 करते जो दुर्बुद्धि हैं, भेद-भाव से प्रति ।तत्व-दर्श उनको नहीं, जो देता है जीत ॥
858 हट कर रहना भेद से, देता है संपत्ति ।उससे अड़ कर जीतना, लाता पास विपत्ति ॥
859 भेद-भाव नहिं देखता, तो होती संपत्ति ।अधिक देखना है उसे, पाना है आपत्ति ॥

downloaded from www.pmlogy.com

860 होती हैं सब हानियाँ, भेद-भाव से प्राप्त ।मैत्री से शुभ नीति का, उत्तम धन है प्राप्त ॥

अध्याय 87. शत्रुता-उत्कर्ष

861 बलवानों से मत भिड़ो, करके उनसे वैर ।कमज़ोरों की शत्रुता, सदा चाहना ख़ैर ॥
862 प्रेम रहित निज बल रहित, सबल सहाय न पास ।कर सकता है किस तरह, शत्रु शक्ति का नाश ॥
863 अनमिल है कंजूस है, कायर और अजान ।उसपर जय पाना रहा, रिपु को अति आसान ॥
864 क्रोधी हो फिर हृदय से, जो दे भेद निकाल ।उसपर जय सबको सुलभ, सब थल में, सब काल ॥
865 नीतिशास्त्र जो ना पढे, विधिवत् करे न काम ।दुर्जन निंदा-भय-रहित, रिपु हित है सुख-धाम ॥
866 जो रहता क्रोधान्ध है, कामी भी अत्यन्त ।है उसका शत्रुत्व तो, वांछनीय सानन्द ॥
867 करके कार्यारम्भ जो, करता फिर प्रतिकूल ।निश्चय उसकी शत्रुता, करना दे भी मूल ॥
868 गुणविहीन रहते हुए, यदि हैं भी बहुदोष ।तो है वह साथी रहित, रिपु को है संतोष ॥
869 यदि वैरी कायर तथा, नीतिशास्त्र अज्ञात ।उनसे भिड़ते, उच्च सुख, छोड़ेंगे नहिं साथ ॥
870 अनपढ़ की कर शत्रुता, लघुता से जय-लाभ ।पाने में असमर्थ जो, उसे नहीं यश-लाभ ॥

अध्याय 88. सत्रु-शक्ति का ज्ञान

871 रिपुता नामक है वही, असभ्यता-अवगाह ।हँसी-मज़े में भी मनुज, उसकी करे न चाह ॥
872 धनु-हल-धारी कृषक से, करो भले ही वैर ।वाणी-हल-धर कृषक से, करना छोड़ो वैर ॥

873 एकाकी रह जो करे, बहुत जनों से वैर ।पागल से बढ़ कर रहा, बुद्धिहीन वह, खैर ॥
874 मित्र बना कर शत्रु को, जो करता व्यवहार ।महिमा पर उस सभ्य की, टिकता है संसार ॥
875 अपना तो साथी नहीं, रिपु हैं दो, खुद एक ।तो उनमें से ले बना, उचित सहायक एक ॥
876 पूर्व-ज्ञात हो परख कर, अथवा हा अज्ञात् ।नाश-काल में छोड़ दो, शत्रु-मित्रता बात ॥
877 दुःख न कह उस मित्र से, यदि खुद उसे न ज्ञात ।प्रकट न करना शत्रु से, कमज़ोरी की बात ॥
878 ढ़ंग समझ कर कर्म का, निज बल को कर चंड ।अपनी रक्षा यदि करे, रिपु का मिटे घमंड ॥
879 जब पौधा है काटना, जो तरु कांटेदार ।बढ़ने पर घायल करे, छेदक का कर दार ॥
880 जो रिपुओं के दर्प का, कर सकते नहिं नाश ।निश्चय रिपु के फूँकते, होता उनका नाश ॥

अध्याय 89. अन्तवैंर

881 छाया, जल भी हैं बुरे, जब करते हैं हानि ।स्वजन-भाव भी हैं बुरे, यदि देते हैं ग्लानि ॥
882 डरना मत उस शत्रु से, जो है खड्ग समान ।डर उस रिपु के मेल से, जो है मित्र समान ॥
883 बचना अन्तः शत्रु से, उनके खा कर त्रास ।मिट्टी-छेदक ज्यों करें, थका देख वे नाश ॥
884 मन में बिना लगाव के, यदि हो अन्तवैंर ।बन्धु-भेद-कारक कई, करता है वह गैर ॥
885 यदि होता बन्धुत्व में, कोई अन्तवैंर ।मृत्युजनक जो सो कई, करता है वह गैर ॥
886 आश्रित लोगों से निजी, यदि होता है वैर ।सदा असंभव तो रहा, बचना नाश-बगैर ॥
887 डब्बा-ढक्कन योग सम, रहने पर भी मेल ।गृह में अन्तवैंर हो, तो होगा नहिं मेल ॥
888 रेती से घिस कर यथा, लोहा होता क्षीण ।गृह भी अन्तवैंर से, होता है बलहीन ॥
889 अति छोटा ही क्यों न हो, तिल में यथा दरार ।फिर भी अन्तवैंर तो, है ही विनाशकार ॥
890 जिनसे मन मिलता नहीं, जीवन उनके संग ।एक झोंपड़ी में यथा, रहना सहित भुजंग ॥

अध्याय 90. बड़ों का उपचार न करना

891 सक्षम की करना नहीं, क्षमता का अपमान ।रक्षा हित जो कार्य हैं, उनमें यही महान ॥
892 आदर न कर महान का, करे अगर व्यवहार ।होगा उसे महान से, दारुण दुःख अपार ॥
893 करने की सामर्थ्य है, जब चाहें तब नाश ।उनका अपचारी बनो, यदि चाहो निज नाश ॥
894 करना जो असमर्थ का, समर्थ का नुक़सान ।है वह यम को हाथ से, करना ज्यों आह्वान ॥
895 जो पराक्रमी भूप के, बना कोप का पात्र ।बच कर रह सकता कहाँ, कहीं न रक्षा मात्र ॥
896 जल जाने पर आग से, बचना संभव जान ।बचता नहीं महान का, जो करता अपमान ॥
897 तपःश्रेष्ठ हैं जो महा, यदि करते हैं कोप ।क्या हो धन संपत्ति की, और विभव की ओप ॥
898 जो महान हैंअचल सम, करते अगर विचार ।जग में शाश्वत सम धनी, मिटता सह परिवार ॥
899 उत्तम व्रतधारी अगर, होते हैं नाराज ।मिट जायेगा इन्द्र भी, गँवा बीच में राज ॥
900 तपःश्रेष्ठ यदि क्रुद्ध हों, रखते बडा प्रभाव ।रखते बड़े सहाय भी, होता नहीं बचाव ॥

अध्याय 91. स्त्री-वश होना

901 स्त्री पर जो आसक्त हैं, उनको मिले न धर्म ।अर्थार्थी के हित रहा, घृणित वस्तु वह कर्म ॥
902 स्त्री लोलुप की संपदा, वह है पौरुष-त्यक्त ।लज्जास्पद बन कर बड़ी, लज्जित करती सख्त ॥
903 डरने की जो बान है, स्त्री से दब कर नीच ।सदा रही लज्जाजनक, भले जनों के बीच ॥
904 गृहिणी से डर है जिसे, औ' न मोक्ष की सिद्धि ।उसकी कर्म-विदग्धता, पाती नहीं प्रसिद्धि ॥

downloaded from www.pmlogy.com

905 पत्नी-भीरु सदा डरे, करने से वह कार्य ।सज्जन लोगों के लिये, जो होते सत्कार्य ॥
906 जो डरते स्त्री-स्कंध से, जो है बाँस समान ।यद्यपि रहते देव सम, उनका है नहिं मान ॥
907 स्त्री की आज्ञा पालता, जो पौरुष निर्लज्ज ॥उससे बढ कर श्रेष्ठ है, स्त्री का स्त्रीत्व सलज्ज ॥
908 चारु मुखी वंछित वही, करते हैं जो कर्म ।भरते कमी न मित्र की, करते नहीं सुधर्म ॥
909 धर्म-कर्म औ' प्रचुर धन, तथा अन्य जो काम ।स्त्री के आज्ञापाल को, इनका नहिं अंजाम ॥
910 जिनका मन हो कर्मरत, औ' जो हों धनवान ।स्त्री-वशिता से उन्हें, कभी न है अज्ञान ॥

अध्याय 92. वार-वनिता

911 चाह नहीं है प्रेमवश, धनमूलक है चाह ।ऐसी स्त्री का मधुर वच, ले लेता है आह ॥
912 मधुर वचन है बोलती, तोल लाभ का भाग ।वेश्या के व्यवहार को, सोच समागम त्याग ॥
913 पण-स्त्री आलिंगन रहा, यों झूठा ही जान ।ज्यों लिपटे तम-कोष्ठ में, मुरदे से अनजान ॥
914 रहता है परमार्थ में, जिनका मनोनियोग ।अर्थ-अर्थिनी तुच्छ सुख, करते नहिं वे भोग ॥
915 सहज बुद्धि के साथ है, जिनका विशिष्ट ज्ञान ।पण्य-स्त्री का तुच्छ सुख, भोगेंगे नहिं जान ॥
916 रूप-दृप्त हो तुच्छ सुख, जो देती हैं बेच ।निज यश-पालक श्रेष्ठ जन, गले लगें नहिं, हेच ॥
917 करती है संभोग जो, लगा अन्य में चित्त ।उससे गले लगे वही, जिसका चंचल चित्त ॥
918 जो स्त्री है मायाविनी, उसका भोग विलास ।अविवेकी जन के लिये, रहा मोहिनी-पाश ॥
919 वेश्या का कंधा मृदुल, भूषित है जो खूब ।मूढ-नीच उस नरक में, रहते हैं कर डूब ॥
920 द्वैध-मना व्यभिचारिणी, मद्य, जुए का खेल ।लक्ष्मी से जो त्यक्त हैं, उनका इनसे मेल ॥

अध्याय 93. मद्य-निषेध

921 जो मधु पर आसक्त हैं, खोते हैं सम्मान ।शत्रु कभी डरते नहीं, उनसे कुछ भय मान ॥
922 मद्य न पीना, यदि पिये, वही पिये सोत्साह ।साधु जनों के मान की, जिसे नहीं परवाह ॥
923 माँ के सम्मुख भी रही, मद-मत्तता खराब ।तो फिर सम्मुख साधु के, कितनी बुरी शराब ॥
924 जग-निंदित अति दोषयुत, जो हैं शराबखोर ।उनसे लज्जा-सुन्दरी, मूँह लेती है मोड़ ॥
925 विस्मृति अपनी देह की, क्रय करना दे दाम ।यों जाने बिन कर्म-फल, कर देना है काम ॥
926 सोते जन तो मृतक से, होते हैं नहिं भिन्न ।विष पीते जन से सदा, मद्यप रहे अभिन्न ॥
927 जो लुक-छिप मधु पान कर, खोते होश-हवास ।भेद जान पुर-जन सदा, करते हैं परिहास ॥
928 'मधु पीना जाना नहीं', तज देना यह घोष ।पीने पर झट हो प्रकट, मन में गोपित दोष ॥
929 मद्यप का उपदेश से, होना होश-हवास ।दीपक ले जल-मग्न की, करना यथा तलाश ॥
930 बिना पिये रहते समय, मद-मस्त को निहार ।सुस्ती का, पीते स्वयं, करता क्यों न विचार ॥

अध्याय 94. जुआ

931 चाह जुए की हो नहीं, यद्यपि जय स्वाधीन ।जय भी तो कांटा सदृश, जिसे निगलता मीन ॥
932 लाभ, जुआरी, एक कर, फिर सौ को खो जाय ।वह भी क्या सुख प्राप्ति का, जीवन-पथ पा जाय ॥
933 पासा फेंक सदा रहा, करते धन की आस ।उसका धन औ' आय सब, चलें शत्रु के पास ॥
934 करता यश का नाश है, दे कर सब दुख-जाल ।और न कोई द्यूत सम, बनायगा कंगाल ॥
935 पासा, जुआ-घर तथा, हस्य-कुशलता मान ।जुए को हठ से पकड़, निर्धन हुए निदान ॥
936 जुआरूप ज्येष्ठा जिन्हें, मूँह में लेती डाल ।उन्हें न मिलता पेट भर, भोगें दुख कराल ॥
937 द्यूत-भूमि में काल सब, जो करना है वास ।करता पैतृक धन तथा, श्रेष्ठ गुणों का नाश ॥
938 पेरित मिथ्या-कर्म में, करके धन को नष्ट ।दया-धर्म का नाश कर, जुआ दिलाता कष्ट ॥
939 रोटी कपड़ा संपदा, विद्या औ' सम्मान ।पाँचों नहिं उनके यहाँ, जिन्हें जुए की बान ॥
940 खोते खोते धन सभी, यथा जुएँ में मोह ।सहते सहते दुःख भी, है जीने में मोह ॥

अध्याय 95. औषध

941 वातादिक जिनको गिना, शास्त्रज्ञों ने तीन ।बढ़ते घटते दुःख दें, करके रोगाधीन ॥
942 खादित का पचना समझ, फिर दे भोजन-दान ।तो तन को नहिं चाहिये, कोई औषध-पान ॥
943 जीर्ण हुआ तो खाइये, जान उचित परिमाण ।देहवान हित है वही, चिरायु का सामान ॥
944 जीर्ण कुआ यह जान फिर, खूब लगे यदि भूख ।खाओ जो जो पथ्य हैं, रखते ध्यान अचूक ॥
945 करता पथ्याहार का, संयम से यदि भोग ।तो होता नहिं जीव को, कोई दुःखद रोग ॥
946 भला समझ मित भोज का, जीमे तो सुख-वास ।वैसे टिकता रोग है, अति पेटू के पास ॥
947 जाठराग्नि की शक्ति का, बिना किये सुविचार ।यदि खाते हैं अत्याधिक, बढ़ते रोग अपार ॥
948 ठीक समझ कर रोग क्या, उसका समझ निदान ।समझ युक्ति फिर शमन का, करना यथा विधान ॥
949 रोगी का वय, रोग का, काल तथा विस्तार ।सोच समझकर वैद्य को, करना है उपचार ॥
950 रोगी वैद्य देवा तथा, तीमारदार संग ।चार तरह के तो रहे, वैद्य शास्त्र के अंग ॥

downloaded from www.pmlogy.com

अध्याय 96. कुलीनता

951 लज्जा, त्रिकरण-एकता, इन दोनों का जोड़ ।सहज मिले नहिं और में, बस कुलीन को छोड़ ॥
952 सदाचार लज्जा तथा, सच्चाई ये तीन ।इन सब से विचलित कभी, होते नहीं कुलीन ॥
953 सुप्रसन्न मुख प्रिय वचन, निंदा-वर्जन दान ।सच्चे श्रेष्ठ कुलीन हैं, चारों का संस्थान ॥
954 कोटि कोटि धन ही सही, पायें पुरुष कुलीन ।तो भी वे करते नहीं, रहे कर्म जो हीन ॥
955 हाथ खींचना ही पड़े, यद्यपि हो कर दीन ।छोडें वे न उदारता, जिनका कुल प्राचीन ॥
956 पालन करते जी रहें, जो निर्मल कुल धर्म ।यों जो हैं वे ना करें, छल से अनुचित कर्म ॥
957 जो जन बडे कुलीन हैं, उन पर लगा कलंक ।नभ में चन्द्र-कलंक सम, प्रकटित हो अतंग ॥
958 रखते सुगुण कुलीन के, जो निकले निःस्नेह ।उसके कुल के विषय में, होगा ही संदेह ॥
959 अंकुर करता है प्रकट, भू के गुण की बात ।कुल का गुण, कुल-जात की, वाणी करती ज्ञात ॥
960 जो चाहे अपना भला, पकडे लज्जा-रीत ।जो चाहे कुल-कानि को, सब से रहे विनीत ॥

अध्याय 97. मान

961 जीवित रहने के लिये, यद्यपि है अनिवार्य ।फिर भी जो कुल-हानिकर, तज देना वे कार्य ॥
962 जो हैं पाना चाहते, कीर्ति सहित सम्मान ।यश-हित भी करते नहीं, जो कुल-हित अपमान ॥
963 सविनय रहना चाहिये, रहते अति संपन्न ।तन कर रहना चाहिये, रहते बड़ा विपन्न ॥
964 गिरते हैं जब छोड़कर, निज सम्मानित स्थान ।नर बनते हैं यों गिरे, सिर से बाल समान ॥
965 अल्प घुंघची मात्र भी, करते जो दुष्काम ।गिरि सम ऊँचे क्यों न हों, होते हैं बदनाम ॥
966 न तो कीर्ति की प्राप्ति हो, न हो स्वर्ग भी प्राप्त ।निंदक का अनुचर बना, तो औ' क्या हो प्राप्त ॥
967 निंदक का अनुचर बने, जीवन से भी हेय ।'ज्यों का त्यों रह मर गया', कहलाना है श्रेय ॥
968 नाश काल में मान के, जो कुलीनता-सत्व ।तन-रक्षित-जीवन भला, क्या देगा अमरत्व ॥
969 बाल कटा तो त्याग दे, चमरी-मृग निज प्राण ।उसके सम नर प्राण दें, रक्षा-हित निज मान ॥
970 जो मानी जीते नहीं, होने पर अपमान ।उनके यश को पूज कर, लोक करे गुण-गान ॥

अध्याय 98. महानता

971 मानव को विख्याति दे, रहना सहित उमंग ।'जीयेंगे उसके बिना', है यों कथन कलक ॥
972 सभी मनुज हैं जन्म से, होते एक समान ।गुण-विशेष फिर सम नहीं, कर्म-भेद से जान ॥
973 छोटे नहिं होते बड़े, यद्यपि स्थिति है उच्च ।निचली स्थिति में भी बड़े, होते हैं नहिं तुच्छ ॥
974 एक निष्ठ रहती हुई, नारी सती समान ।आत्म-संयमी जो रहा, उसका हो बहुमान ॥
975 जो जन महानुभव हैं, उनको है यह साध्य ।कर चुकना है रीति से, जो हैं कार्य असाध्य ॥
976 छोटों के मन में नहीं, होता यों सुविचार ।पावें गुण नर श्रेष्ठ का, कर उनका सत्कार ॥
977 लगती है संपन्नता, जब ओछों के हाथ ।तब भी अत्याचार ही, करे गर्व के साथ ॥
978 है तो महानुभावता, विनयशील सब पर्व ।अहम्मन्य हो तुच्छता, करती है अति गर्व ॥
979 अहम्मन्यता-हीनता, है महानता बान ।अहम्मन्यता-सींव ही, ओछापन है जान ॥
980 दोषों को देना छिपा, है महानता-भाव ।दोषों की ही घोषणा, है तुच्छत- स्वभाव ॥

अध्याय 99. सर्वगुण-पूर्णता

981 जो सब गुण हैं पालते, समझ योग्य कर्तव्य ।उनकों अच्छे कार्य सब, सहज बने कर्तव्य ॥
982 गुण-श्रेष्ठता-लाभ ही, महापुरुष को श्रेय ।अन्य लाभ की प्राप्ति से, श्रेय न कुछ भी ज्ञेय ॥
983 लोकोपकारिता, दया, प्रेम हया औ' साँच ।सुगुणालय के थामते, खंभे हैं ये पाँच ॥
984 वध-निषेध-व्रत-लाभ ही, तप को रहा प्रधान ।पर-निंदा वर्जन रही, गुणपूर्णता महान ॥
985 विनयशीलता जो रही, बलवानों का सार ।है रिपु-रिपुता नाश-हित, सज्जन का हथियार ॥
986 कौन कसौटी जो परख, जाने गुण-आगार ।है वह गुण जो मान ले, नीचों से भी हार ॥
987 अपकारी को भी अगर, किया नहीं उपकार ।होता क्या उपयोग है, हो कर गुण-आगार ॥
988 निर्धनता नर के लिये, होता नहिं अपमान ।यदि बल है जिसको कहें, सर्व गुणों की खान ॥
989 गुण-सागर के कूल सम, जो मर्यादा-पाल ।मर्यादा छोड़े नहीं, यद्यपि युगान्त-काल ॥
990 घटता है गुण-पूर्ण का, यदि गुण का आगार ।तो विस्तृत संसार भी, ढो सकता नहिं भार ॥

अध्याय 100. शिष्टाचार

991 मिलनसार रहते अगर, सब लोगों को मान ।पाना शिष्टाचार है, कहते हैं आसान ॥
992 उत्तम कुल में जन्म औ', प्रेम पूर्ण व्यवहार ।दोनों शिष्टाचार के, हैं ही श्रेष्ठ प्रकार ॥
993 न हो देह के मेल से, श्रेष्ठ जनों का मेल ।आत्माओं के योग्य तो, हैं संस्कृति का मेल ॥
994 नीति धर्म को चाहते, जो करते उपकार ।उनके शिष्ट स्वभाव को, सराहता संसार ॥
995 हँसी खेल में भी नहीं, निंदा करना इष्ट ।पर-स्वभाव ज्ञाता रहें, रिपुता में भी शिष्ट ॥

downloaded from www.pmlogy.com

996 शिष्टों के आधार पर, टिकता है संसार ।उनके बिन तो वह मिले, मिट्टी में निर्धार ॥
997 यद्यपि हैं रेती सदृश, तीक्ष्ण बुद्धि-निधान ।मानव-संस्कृति के बिना, नर हैं वृक्ष समान ॥
998 मित्र न रह जो शत्रु हैं, उनसे भी व्यवहार ।सभ्य पुरुष का नहिं किया, तो वह अधम विचार ॥
999 जो जन कर सकते नहीं, प्रसन्न मन व्यवहार ।दिन में भी तम में पड़ा, है उनका संसार ॥
1000 जो है प्राप्त असभ्य को, धन-सम्पत्ति अमेय ।कलश-दोष से फट गया, शुद्ध दूध सम ज्ञेय ॥

भाग–३: काम- कांड

अध्याय 101. निष्फल धन

1001 भर कर घर भर प्रचुर धन, जो करता नहिं भोग ।धन के नाते मृतक है, जब है नहिं उपयोग ॥
1002 'सब होता है अर्थ से', रख कर ऐसा ज्ञान ।कंजूसी के मोह से, प्रेत-जन्म हो मलान ॥
1003 लोलुप संग्रह मात्र का, यश का नहीं विचार ।ऐसे लोभी का जनम, है पृथ्वी को भार ॥
1004 किसी एक से भी नहीं, किया गया जो प्यार ।निज अवशेष स्वरूप वह, किसको करे विचार ॥
1005 जो करते नहिं दान ही, करते भी नहिं भोग ।कोटि कोटि धन क्यों न हो, निर्धन हैं वे लोग ॥
1006 योग्य व्यक्ति को कुछ न दे, स्वयं न करता भोग ।विपुल संपदा के लिये, इस गुण का नर रोग ॥
1007 कुछ देता नहिं अधन को, ऐसों का धन जाय ।क्वाँरी रह अति गुणवती, ज्यों बूढ़ी हो जाय ॥
1008 अप्रिय जन के पास यदि, आश्रित हो संपत्ति ।ग्राम-मध्य विष-वृक्ष ज्यों, पावे फल-संपत्ति ॥
1009 प्रेम-भाव तज कर तथा, भाव धर्म से जन्य ।आत्म-द्रोह कर जो जमा, धन हथियाते अन्य ॥
1010 उनकी क्षणिक दरिद्रता, जो नामी धनवान ।जल से खाली जलद का, है स्वभाव समान ॥

अध्याय 102. लज्जाशीलता

1011 लज्जित होना कर्म से, लज्जा रही बतौर ।सुमुखी कुलांगना-सुलभ, लज्जा है कुछ और ॥
1012 अन्न वस्त्र इत्यादि हैं, सब के लिये समान ।सज्जन की है श्रेष्ठता, होना लज्जावान ॥
1013 सभी प्राणियों के लिये, आश्रय तो है देह ।रखती है गुण-पूर्णता, लज्जा का शुभ गेह ॥
1014 भूषण महानुभाव का, क्या नहिं लज्जा-भाव ।उसके बिन गंभीर गति, क्या नहिं रोग-तनाव ॥
1015 लज्जित है, जो देख निज, तथा पराया दोष ।उनको कहता है जगत, 'यह लज्जा का कोष' ॥
1016 लज्जा को घेरा किये, बिना सुरक्षण-योग ।चाहेंगे नहिं श्रेष्ठ जन, विस्तृत जग का भोग ॥
1017 लज्जा-पालक त्याग दें, लज्जा के हित प्राण ।लज्जा को छोड़ें नहीं, रक्षित रखने जान ॥
1018 अन्यों को लज्जित करे, करते ऐसे कर्म ।उससे खुद लज्जित नहीं, तो लज्जित हो धर्म ॥
1019 यदि चूके सिद्धान्त से, तो होगा कुल नष्ट ।स्थाई हो निर्लज्जता, तो हों सब गुण नष्ट ॥
1020 कठपुथली में सूत्र से, है जीवन-आभास ।त्यों है लज्जाहीन में, चैतन्य का निवास ॥

अध्याय 103. वंशोत्कर्ष-विधान

1021 'हाथ न खींचूँ कर्म से, जो कुल हित कर्तव्य ।इसके सम नहिं श्रेष्ठता, यों है जो मन्तव्य ॥
1022 सत् प्रयत्न गंभीर मति, ये दोनों ही अंश ।क्रियाशील जब हैं सतत, उन्नत होता वंश ॥
1023 'कुल को अन्नत में करूँ', कहता है दृढ बात ।तो आगे बढ़ कमर कस, दैव बँटावे हाथ ॥
1024 कुल हित जो अविलम्ब ही, हैं प्रयत्न में चूर ।अनजाने ही यत्न वह, बने सफलता पूर ॥
1025 कुल अन्नति हित दोष बिन, जिसका है आचार ।बन्धु बनाने को उसे, घेर रहा संसार ॥
1026 स्वयं जनित निज वंश का, परिपालन का मान ।अपनाना है मनुज को, उत्तम पौरुष जान ॥
1027 महावीर रणक्षेत्र में, ज्यों हैं जिम्मेदार ।त्यों है सुयोग्य व्यक्ति पर, निज कुटुंब का भार ॥
1028 कुल-पालक का है नहीं, कोई अवसर खास ।आलसवश मानी बने, तो होता है नाश ॥
1029 जो होने देता नहीं, निज कुटुंब में दोष ।उसका बने शरीर क्या, दुख-दर्दों का कोष ॥
1030 योग्य व्यक्ति कुल में नहीं, जो थामेगा टेक ।जड़ में विपदा काटते, गिर जाये कुल नेक ॥

अध्याय 104. कृषि

1031 कृषि-अधीन ही जग रहा, रह अन्यों में घुर्ण ।सो कृषि सबसे श्रेष्ठ है, यद्यपि है श्रमपूर्ण ॥
1032 जो कृषि की क्षमता बिना, करते धंधे अन्य ।कृषक सभी को वहन कर, जगत-धुरी सम गण्य ॥
1033 जो जीवित हैं हल चला, उनका जीवन धन्य ।झुक कर खा पी कर चलें, उनके पीचे अन्य ॥
1034 निज नृप छत्रच्छाँह में, कई छत्रपति शान ।छाया में पल धान की, लाते सौम्य किसान ॥
1035 निज कर से हल जोत कर, खाना जिन्हें स्वभाव ।माँगें नहिं, जो माँगता, देंगे बिना दुराव ॥
1036 हाथ खिँचा यदि कृषक का, उनकी भी नहिं टेक ।जो ऐसे कहते रहे 'हम हैं निस्पृह एक' ॥
1037 एक सेर की सूख यदि, पाव सेर हो धूल ।मुट्ठी भर भी खाद बिन, होगी फ़सल अतूल ॥
1038 खेत जोतने से अधिक, खाद डालना श्रेष्ठ ।बाद निराकर सींचना, फिर भी रक्षण श्रेष्ठ ॥
1039 चल कर यदि देखे नहीं, मालिक दे कर ध्यान ।गृहिणी जैसी रूठ कर, भूमि करेगी मान ॥
1040 'हम दरिद्र हैं' यों करे, सुस्ती में आलाप ।भूमि रूप देवी उसे, देख हँसेगी आप ॥

downloaded from www.pmlogy.com

अध्याय 105. दरिद्रता

1041 यदि पूछो दारिद्र्य सम, दुःखद कौन महान ।तो दुःखद दारिद्र्य सम, दारिद्रता ही जान ॥
1042 निर्धनता की पापिनी, यदि रहती है साथ ।लोक तथा परलोक से, धोना होगा हाथ ॥
1043 निर्धनता के नाम से, जो है आशा-पाश ।कुलीनता, यश का करे,एक साथ ही नाश ॥
1044 निर्धनता पैदा करे, कुलीन में भी ढील ।जिसके वश वह कह उठे, हीन वचन अश्लील ॥
1045 निर्धनता के रूप में, जो है दुख का हाल ।उसमें होती है उपज, कई तरह की साल ॥
1046 यद्यपि अनुसंधान कर, कहे तत्व का अर्थ ।फिर भी प्रवचन दिन का, हो जाता है व्यर्थ ॥
1047 जिस दरिद्र का धर्म से, कुछ भी न अभिप्राय ।जननी से भी अन्य सम, वह तो देखा जाय ॥
1048 कंगाली जो कर चुकी, कल मेरा संहार ।अयोगी क्या आज भी, करने उसी प्रकार ॥
1049 अन्तराल में आग के, सोना भी है साध्य ।आँख झपकना भी ज़रा, दारिद में नहिं साध्य ॥
1050 भोग्य-हीन रह, दिन का, लेना नहिं सन्यास ।माँड-नमक का यम बने, करने हित है नाश ॥

अध्याय 106. याचना

1051 याचन करने योग्य हों, तो माँगना ज़रूर ।उनका गोपन-दोष हो, तेरा कुछ न कसूर ॥
1052 यचित चीज़ें यदि मिलें, बिना दिये दुख-द्वन्द ।याचन करना मनुज को, देता है आनन्द ॥
1053 खुला हृदय रखते हुए, जो मानेंगे मान ।उनके सम्मुख जा खड़े, याचन में भी शान ॥
1054 जिन्हें स्वप्न में भी 'नहीं', कहने की नहिं बान ।उनसे याचन भी रहा, देना ही सम जान ॥
1055 सम्मुख होने मात्र से, बिना किये इनकार ।दाता हैं जग में, तभी, याचन है स्वीकार ॥
1056 उन्हें देख जिनको नहीं, 'ना', कह सहना कष्ट ।दुःख सभी दारिद्र्य के, एक साथ हों नष्ट ॥
1057 बिना किये अवहेलना, देते जन को देख ।मन ही मन आनन्द से, रहा हर्ष-अतिरेक ॥
1058 शीतल थलयुत विपुल जग, यदि हो याचक-हीन ।कठपुथली सम वह रहे, चलती सूत्राधीन ॥
1059 जब कि प्रतिग्रह चाहते, मिलें न याचक लोग ।दाताओं को क्या मिले, यश पाने का योग ॥
1060 याचक को तो चाहिये, ग्रहण करे अक्रोध ।निज दरिद्रता-दुःख ही, करे उसे यह बोध ॥

अध्याय 107. याचना-भय

1061 जो न छिपा कर, प्रेम से, करते दान यथेष्ट ।उनसे भी नहिं माँगना, कोटि गुना है श्रेष्ठ ॥
1062 यदि विधि की करतार ने, भीख माँग नर खाय ।मारा मारा फिर वही, नष्ट-भ्रष्ट हो जाय ॥
1063 'निर्धनता के दुःख को, करें माँग कर दूर' ।इस विचार से क्रूरतर, और न है कुछ क्रूर ॥
1064 दारिदवश भी याचना, जिसे नहीं स्वीकार ।भरने उसके पूर्ण-गुण, काफी नहिं संसार ॥
1065 पका माँड ही क्यों न हो, निर्मल नीर समान ।खाने से श्रम से कमा, बढ़ कर मधुर न जान ॥
1066 यद्यपि माँगे गाय हित, पानी का ही दान ।याचन से बदतर नहीं, जिह्वा को अपमान ॥
1067 याचक सबसे याचना, यही कि जो भर स्वाँग ।याचन करने पर न दें, उनसे कभी न माँग ॥
1068 याचन रूपी नाव यदि, जो रक्षा बिन नग्न ।गोपन की चट्टान से, टकराये तो भग्न ॥
1069 दिल गलता है, ख्याल कर, याचन का बदहाल ।गले बिना ही नष्ट हो, गोपन का कर ख्याल ॥
1070 'नहीं' शब्द सुन जायगी, याचक जन की जान ।गोपन करते मनुज के, कहाँ छिपेंगे प्राण ॥

अध्याय 108. नीचता

1071 हैं मनुष्य के सदृश ही, नीच लोग भी दृश्य ।हमने तो देखा नहीं, ऐसा जो सादृश्य ॥
1072 चिन्ता धर्माधर्म की, नहीं हृदय के बीच ।सो बढ़ कर धर्मज्ञ से, भाग्यवान हैं नीच ॥
1073 नीच लोग हैं देव सम, क्योंकि निरंकुश जीव ।वे भी करते आचरण, मनमानी बिन सींव ॥
1074 मनमौजी ऐसा मिले, जो अपने से खर्व ।तो उससे बढ़ खुद समझ, नीच करेगा गर्व ॥
1075 नीचों के आचार का, भय ही है आधार ।भय बिन भी कुछ तो रहे, यदि हो लाभ-विचार ॥
1076 नीच मनुज ऐसा रहा, जैसा पिटता ढोल ।स्वयं सुने जो भेद हैं, ढो अन्यों को खोल ॥
1077 गाल-तोड़ घूँसा बिना, जो फैलाये हाथ ।झाडेंगे नहिं अधम जन, निज झूठा भी हाथ ॥
1078 सज्जन प्रार्थन मात्र से, देते हैं फल-दान ।नीच निचोड़ों ईख सम, तो देते रस-पान ॥
1079 खाते पीते पहनते, देख पराया तोष ।छिद्रान्वेषण-चतुर जो, नीच निकाले दोष ॥
1080 नीच लोग किस योग्य हों, आयेंगे क्या काम ।संकट हो तो झट स्वयं, बिक कर बनें गुलाम ॥

अध्याय 109. सौन्दर्य की पीड़ा

1081 क्या यह है देवांगना, या सुविशेष मयूर ।या नारी कुंडल-सजी, मन है भ्रम में चूर ॥
1082 दृष्टि मिलाना सुतनु का, होते दृष्टि-निपान ।हो कर खुद चँडी यथा, चढ़ आये दल साथ ॥
1083 पहले देखा है नहीं, अब देखा यम कौन ।लडते विशाल नेत्रयुत, वह है स्त्री-गुण-भौन ॥
1084 मुग्धा इस स्त्री-रत्न के, दिखी दृगों की रीत ।खाते दर्शक-प्राण हैं, यों है गुण विपरीत ॥
1085 क्या यम है, या आँख है, या है मृगी सुरंग ।इस मुग्धा की दृष्टि में, है तीनों का ढंग ॥

downloaded from www.pmlogy.com

1086 ऋजु हो टेढ़ी भृकुटियाँ, मना करें दे छाँह ।तो इसकी आँखें मुझे, हिला, न लेंगी आह ॥
1087 अनत कुचों पर नारि के, पड़ा रहा जो पाट ।मद-गज के दृग ढ़ांकता, मुख-पट सम वह ठाट ॥
1088 उज्जवल माथे से अहो, गयी शक्ति वह रीत ।भिड़े बिना रण-भूमि में, जिससे रिपु हों भीत ॥
1089 सरल दृष्टि हरिणी सदृश, औ' रखती जो लाज ।उसके हित गहने बना, पहनाना क्या काज ॥
1090 हर्षक है केवल उसे, जो करता है पान ।दर्शक को हर्षक नहीं, मधु तो काम समान ॥

अध्याय 110. संकेत समझना

1091 इसके कजरारे नयन, रखते हैं दो दृष्टि ।रोग एक, उस रोग की, दवा दूसरी दृष्टि ॥
1092 आंख बचा कर देखना, तनिक मुझे क्षण काल ।अर्द्ध नहीं, संयोग का, उससे अधिक रसाल ॥
1093 देखा, उसने देख कर, झुका लिया जो सीस ।वह क्यारी में प्रेम की, देना था जल सींच ॥
1094 मैं देखूँ तो डालती, दृष्टि भूमि की ओर ।ना देखूँ तो देख खुद, मन में रही हिलोर ॥
1095 सीधे वह नहीं देखती, यद्यपि मेरी ओर ।सुकुचाती सी एक दृग, मन में रही हिलोर ॥
1096 यद्अपि वह अनभिज्ञ सी, करती है कटु बात ।बात नहीं है क्रुद्ध की, झट होती यह ज्ञात ॥
1097 रुष्ट दृष्टि है शत्रु सम, कटुक वचन सप्रीति ।दिखना मानों अन्य जन, प्रेमी जन की रीति ॥
1098 मैं देखूँ तो, स्निग्ध हो, करे मंद वह हास ।सुकुमारी में उस समय, एक रही छवी ख़ास ॥
1099 उदासीन हो देखना, मानों हो अनजान ।प्रेमी जन के पास ही, रहती ऐसी बान ॥
1100 नयन नयन मिल देखते, यदि होता है योग ।वचनों का मूँह से कहे, है नहिं कुछ उपयोग ॥

अध्याय 111. संयोग का आनन्द

1101 पंचेन्द्रिय सुख, रूप औ', स्पर्श गंध रस शब्द ।उज्ज्वल चूड़ी से सजी, इसमें सब उपलब्ध ॥
1102 रोगों की तो है दवा, उनसे अलग पदार्थ ।जो सुतनू का रोग है, दवा वही रोगार्थ ॥
1103 निज दयिता मृदु स्कंध पर, सोते जो आराम ।उससे क्या रमणीय है, कमल-नयन का धाम ॥
1104 हटने पर देती जला, निकट गया तो शीत ।आग कहाँ से पा गयी, बाला यह विपरीत ॥
1105 इच्छित ज्यों इच्छित समय, आकर दें आनन्द ।पुष्पालंकृत केशयुत, हैं बाला के स्कंध ॥
1106 लगने से हर बार है, नवजीवन का स्पंद ।बने हुए हैं अमृत के, इस मुग्धा के स्कंध ॥
1107 स्वगृह में स्वपादर्थ का, यथा बाँट कर भोग ।रहा गेहूँए रंग की, बाला से संयोग ॥
1108 आलिंगन जो यों रहा, बीच हवा-गति बंद ।दोनों को, प्रिय औ' प्रिया, देता है आनन्द ॥
1109 मान मनावन मिलनसुख, ये जो हैं फल-भोग ।प्रेम-पाश में जो पड़े, उनको है यह भोग ॥
1110 होते होते ज्ञान के, यथा ज्ञात अज्ञान ।मिलते मिलते सुतनु से, होता प्रणय-ज्ञान ॥

अध्याय 112. सौन्दर्य वर्णन

1111 रे अनिच्च तू धन्य है, तू है कोमल प्राण ।मेरी जो है प्रियतमा, तुझसे मृदुतर जान ॥
1112 बहु-जन-दृष्ट सुमन सदृश, इसके दृग को मान ।रे मन यदि देखो सुमन, तुम हो भ्रमित अजान ॥
1113 पल्लव तन, मोती रदन, प्राकृत गंध सुगंध ।भाला कजरारा नयन, जिसके बाँस-स्कंध ॥
1114 कुवलय दल यदि देखता, सोच झुका कर सीस ।इसके दृग सम हम नहीं, होती उसको खीस ॥
1115 धारण किया अनिच्च को, बिना निकाले वृन्त ।इसकी कटि हिन ना बजे, मंगल बाजा-वृन्द ॥
1117 क्षय पाकर फिर पूर्ण हो, शोभित रहा मयंक ।इस नारी के वदन पर, रहता कहाँ कलंक ॥
1118 इस नारी के वदन सम, चमक सके तो चाँद ।प्रेम-पात्र मेरा बने, चिरजीवी रह चाँद ॥
1119 सुमन-नयन युत वदन सम, यदि होने की चाह ।सबके सम्मुख चन्द्र तू चमक न बेपरवाह ॥
1120 मृदु अनिच्च का फूल औ', हंसी का मृदु तूल ।बाला के मृदु पाद हित, रहे गोखरू शूल ॥

अध्याय 113. प्रेम-प्रशंसा

1121 मधुर भाषिणी सुतनु का, सित रद निःसृत नीर ।यों लगता है मधुर वह, ज्यों मधु-मिश्रित क्षीर ॥
1122 जैसा देही देह का, होता है सम्बन्ध ।वैसा मेरे, नारि के, बीच रहा सम्बन्ध ॥
1123 पुतली में पुतली अरी, हट जाओ यह जान ।मेरी ललित ललाटयुत, प्यारी को नहिं स्थान ॥
1124 जीना सम है प्राण हित, बाला, जब संयोग ।मरना सम उसके लिये, होता अगर वियोग ॥
1125 लड़ते दृग युत बाल के, गुण यदि जाऊँ भूल ।तब तो कर सकता स्मरण, पर जाता नहिं भूल ॥
1126 दृग में से निकलें नहीं, मेरे सुभग सुजान ।झपकी लूँ तो हो न दुख, वे हैं सूक्ष्म प्राण ॥
1127 यों विचार कर नयन में, करते वास सुजान ।नहीं आंजतीं हम नयन, छिप जायेंगे जान ॥
1128 यों विचार कर हृदय में, करते वास सुजान ।खाने से डर है गरम, जल जायेंगे जान ॥
1129 झपकी लूँ तो ज्ञात है, होंगे नाथ विलीन ।पर इससे पुरजन उन्हें, कहते प्रेम विहीन ॥
1130 यद्यपि दिल में प्रिय सदा, रहे मज़े में लीन ।पुरजन कहते तज चले, कहते प्रेम विहीन ॥

अध्याय 114. लज्जा-त्याग-कथन

1131 जो चखने पर प्रेम रस, सहें वेदना हाय ।'मडल'-सुरक्षा के बिना, उन्हें न सबल सहाय ॥

downloaded from www.pmlogy.com

1132 आत्मा और शरीर भी, सह न सके जो आग ।चढ़े 'मडल' पर धैर्य से, करके लज्जा त्याग ॥
1133 पहले मेरे पास थीं, सुधीरता और लाज ।कामी जन जिसपर चढ़ें, वही 'मडल' है आज ॥
1134 मेरी थी लज्जा तथा, सुधीरता की नाव ।उसे बहा कर ले गया, भीषण काम-बहाव ॥
1135 माला सम चूड़ी सजे, जिस बाला के हाथ ।उसने संध्या-विरह-दुख, दिया 'मडल' के साथ ॥
1136 कटती मुग्धा की वजह, आँखों में ही रात ।अर्द्ध-रात्रि में भी 'मडल', आता ही है याद ॥
1137 काम-वेदना जलधि में, रहती मग्न यथेष्ट ।फिर भी 'मडल' न जो चढे, उस स्त्री से नहिं श्रेष्ठ ॥
1138 संयम से रहती तथा, दया-पात्र अति वाम ।यह न सोच कर छिप न रह, प्रकट हुआ है काम ॥
1139 मेरा काम यही समझ, सबको वह नहिं ज्ञात ।नगर-वीथि में घूमता, है मस्ती के साथ ॥
1140 रहे भुक्त-भोगी नहीं, यथा चुकी हूँ भोग ।हँसते मेरे देखते, बुद्धि हीन जो लोग ॥

अध्याय 115. प्रवाद-जताना

1141 प्रचलन हुआ प्रवाद का, सो टिकता प्रिय प्राण ।इसका मेरे भाग्य से, लोगों को नहिं ज्ञान ॥
1142 सुमन-नयन-युत बाल की, दुर्लभता नहिं जान ।इस पुर ने अफवाह तो, की है मुझे प्रदान ॥
1143 क्या मेरे लायक नहीं, पुरजन-ज्ञात प्रवाह ।प्राप्त किये बिन मिलन तो, हुई प्राप्त सी बात ॥
1144 पुरजन के अपवाद से, बढ़ जाता है काम ।घट जायेगा अन्यथा, खो कर निज गुण-नाम ॥
1145 होते होते मस्त ज्यों, प्रिय लगता मधु-पान ।हो हो प्रकट प्रवाद से, मधुर काम की बान ॥
1146 प्रिय से केवल एक दिन, हुई मिलन की बात ।लेकिन चन्द्रग्रहण सम, व्यापक हुआ प्रवाद ॥
1147 पुरजन-निंदा खाद है, माँ का कटु वच नीर ।इनसे पोषित रोग यह, बढ़ता रहा अधीर ॥
1148 काम-शमन की सोचना, कर अपवाद प्रचार ।अग्नि-शमन घी डाल कर, करना सदृश विचार ॥
1149 अपवादें से क्यों डरूँ, जब कर अभय प्रदान ।सब को लज्जित कर गये, छोड़ मुझे प्रिय प्राण ॥
1150 निज वांछित अपवाद का, पुर कर रहा प्रचार ।चाहूँ तो प्रिय नाथ भी, कर देंगे उपकार ॥

अध्याय 116. विरह-वेदना

1151 अगर बिछुड़ जाते नहीं, मुझे जताओ नाथ ।जो जियें उनसे कहो, झट फिरने की बात ॥
1152 पहले उनकी दृष्टि तो, देती थी सुख-भोग ।विरह-भीति से दुखद है, अब उनका संयोग ॥
1153 विज्ञ नाथ का भी कभी, संभव रहा प्रवास ।सो करना संभव नहीं, इनपर भी विश्वास ॥
1154 छोड़ चलेंगे यदि सदय, कर निर्भय का घोष ।जो दृढ़-वच विश्वासिनी, उसका है क्या दोष ॥
1155 बचा सके तो यों बचा, जिससे चलें न नाथ ।फिर मिलना संभव नहीं, छोड़ गये यदि साथ ॥
1156 विरह बताने तक हुए, इतने निठुर समर्थ ।प्रेम करेंगे लौट कर, यह आशा है व्यर्थ ॥
1157 नायक ने जो छोड़ कर, गमन किया, वह बात ।वलय कलाई से पतित, क्या न करें विख्यात ॥
1158 उस पुर में रहना दुखद, जहाँ न साथिन लोग ।उससे भी बढ़ कर दुखद, प्रिय से रहा वियोग ॥
1159 छूने पर ही तो जला, सकती है, बस आग ।काम-ज्वर सम वह जला, सकती क्या, कर त्याग ॥
1160 दुखद विरह को मानती, चिन्ता; व्याधि न नेक ।विरह-वेदना सहन कर, जीवित रहीं अनेक ॥

अध्याय 117. विरह-क्षमा की व्यथा

1161 यथा उलीचे सोत का, बढ़ता रहे बहाव ।बढ़ता है यह रोग भी, यदि मैं करूँ छिपाव ॥
1162 गोपन भी इस रोग का, है नहिं वश की बात ।कहना भी लज्जाजनक, रोगकार से बात ॥
1163 मेरी दुबली देह में, प्राणरूप जो डांड ।लटके उसके छोर में, काम व लज्जा कांड ॥
1164 काम-रोग का तो रहा, पारावार अपार ।पर रक्षक बेड़ा नहीं, उसको करने पार ॥
1165 जो देते हैं वेदना, रह कर प्रिय जन, खैर ।क्या कर बैठेंगे अहो, यदि रखते हैं वैर ॥
1166 जो है, बस, यह काम तो, सुख का पारावार ।पीडा दे तो दुःख है, उससे बड़ा अपार ॥
1167 पार न पाती पैर कर, काम-समुद्र महान ।अर्द्ध रात्रि में भी निविड़, रही अकेली जान ॥
1168 सुला जीव सब को रही, दया-पात्र यह रात ।इसको मुझको छोड़ कर, और न कोई साथ ॥
1169 ये रातें जो आजकल, लम्बी हुई अथोर ।निष्ठुर के नैष्ठुर्य से, हैं खुद अधिक कठोर ॥
1170 चल सकते हैं प्रिय के यहाँ, यदि झट हृदय समान ।नहीं तैरते बाढ़ में, यों मेरे दृग, जान ॥

अध्याय 118. नेत्रों का आतुरता से क्षय

1171 अब राते हैं क्यों नयन, स्वयं दिखा आराध्य ।मुझे हुआ यह रोग है, जो बन गया असाध्य ॥
1172 सोचे समझे बिन नयन, प्रिय को उस दिन देख ।अब क्यों होते हैं व्यक्ति, रखते कुछ न विवेक ॥
1173 नयनों ने देखा स्वयं, आतुरता के साथ ।अब जो रोते हैं स्वयं, है हास्यास्पद बात ॥
1174 मुझमें रुज उत्पन्न कर, असाध्य औ' अनिवार्य ।सूख गये, ना कर सके, दृग रोने का कार्य ॥
1175 काम-रोग उत्पन्न कर, सागर से विस्तार ।नींद न पा मेरे नयन, सहते दुःख अपार ॥
1176 ओहो यह अति सुखद है, मुझको दुख में डाल ।अब ये दृग सहते स्वयं, यह दुख, हो बेहाल ॥
1177 दिल पसीज, थे देखते, सदा उन्हें दृग सक्त ।सूख जाय दृग-स्रोत अब, सह सह पीड़ा सख्त ॥

downloaded from www.pmlogy.com

1178 वचन मात्र से प्रेम कर, दिल से किया न प्रेम ।उस जन को देखे बिना, नेत्रों को नहिं क्षेम ॥
1179 ना आवें तो नींद नहिं, आवें, नींद न आय ।दोनों हालों में नयन, सहते हैं अति हाय ॥
1180 मेरे सम जिनके नयन, पिटते ढोल समान ।उससे पुरजन को नहीं, कठिन भेद का ज्ञान ॥

अध्याय 119. पीलापन-जनित पीड़ा

1181 प्रिय को जाने के लिये, सम्मति दी उस काल ।अब जा कर किससे कहूँ, निज पीलापन-हाल ॥
1182 पीलापन यह गर्व कर, 'मैं हूँ उनसे प्राप्त' ।चढ़ कर मेरी देह में, हो जाता है व्याप्त ॥
1183 पीलापन औ' रोग का, करके वे प्रतिदान ।मेरी छवि औ' लाज का, ले कर चले सुदान ॥
1184 उनके गुण का स्मरण कर, करती हूँ गुण-गान ।फिर भी पीलापन चढ़ा, तो क्या यह धोखा न ॥
1185 वह देखो, जाते बिछुड़, मेरे प्रियतम आप्त ।यह देखो, इस देह पर, पीलापन है व्याप्त ॥
1186 दीपक बुझने की यथा, तम की जो है ताक ।प्रिय-आलिंगन ढील पर, पैलापन की ताक ॥
1187 आलिंगन करके रही, करवट बदली थोर ।उस क्षण जम कर छा गया, पीलापन यह घोर ॥
1188 'यह है पीली पड़ गयी', यों करते हैं बात ।इसे त्याग कर वे गये, यों करते नहिं बात ॥
1189 मुझे मना कर तो गये, यदि सकुशल हों नाथ ।तो मेरा तन भी रहे, पीलापन के साथ ॥
1190 अच्छा है पाना स्वयं, पीलापन का नाम ।प्रिय का तजना बन्धुजन, यदि न करें बदनाम ॥

अध्याय 120. विरह-वेदनातिरेक

1191 जिससे अपना प्यार है, यदि पाती वह प्यार ।बीज रहित फल प्रेम का, पाती है निर्धार ॥
1192 जीवों का करता जलद, ज्यों जल दे कर क्षेम ।प्राण-पियारे का रहा, प्राण-प्रिया से प्रेम ॥
1193 जिस नारी को प्राप्त है, प्राण-नाथ का प्यार ।'जीऊँगी' यों गर्व का, उसको है अधिकार ॥
1194 उसकी प्रिया बनी नहीं, जो उसका है प्रेय ।तो बहुमान्या नारि भी, पुण्यवति नहिं ज्ञेय ॥
1195 प्यार किया मैंने जिन्हें, यदि खुद किया न प्यार ।तो उनसे क्या हो सके, मेरा कुछ उपकार ॥
1196 प्रेम एक-तरफ़ा रहे, तो है दुखद अपार ।दोय तरफ़ हो तो सुखद, ज्यों डंडी पर भार ॥
1197 जम कर सक्रिय एक में, रहा मदन बेदर्द ।क्या वह समझेगा नहीं, मेरा दुःख व दर्द ॥
1198 प्रियतम से पाये बिना, उसका मधुमय बैन ।जग में जीती स्त्री सदृश, कोई निष्ठुर है न ॥
1199 प्रेम रहित प्रियतम रहे, यद्यपि है यह ज्ञात ।कर्ण मधुर ही जो मिले, उनकी कोई बात ॥
1200 प्रेम हीन से कठिन रुज, कहने को तैयार ।रे दिल ! तू चिरजीव रह ! सुखा समुद्र अपार ॥

अध्याय 121. स्मरण में एकान्तता-दुःख

1201 स्मरण मात्र से दे सके, अक्षय परमानन्द ।सो तो मधु से काम है, बढ़ कर मधुर अमन्द ॥
1202 दुख-नाशक उसका स्मरण, जिससे है निज प्रेम ।जो सुखदायक ही रहा, किसी हाल में प्रेम ॥
1203 छींका ही मैं चाहती, छींक गयी दब साथ ।स्मरण किया ही चाहते, भूल गये क्या नाथ ॥
1204 उनके दिल में क्या रहा, मेरा भी आवास ।मेरे दिल में, ओह, है, उनका सदा निवास ॥
1205 निज दिल से मुझको हटा, कर पहरे का साज़ ।मेरे दिल आते सदा, आती क्या नहिं लाज ॥
1206 मिलन-दिवस की, प्रिय सहित, स्मृति से हूँ सप्राण ।उस स्मृति के बिन किस तरह, रह सकती सप्राण ॥
1207 मुझे ज्ञात नहिं भूलना, हृदय जलाती याद ।भूलूँगी मैं भी अगर, जाने क्या हो बाद ॥
1208 कितनी ही स्मृति मैं करूँ, होते नहिं नाराज़ ।करते हैं प्रिय नाथ तो, इतना बड़ा लिहाज़ ॥
1209 'भिन्न न हम', जिसने कहा, उसकी निर्दय बान ।सोच सोच चलते बने, मेरे ये प्रिय प्राण ॥
1210 बिछुड़ गये संबद्ध रह, जो मेरे प्रिय कांत ।जब तक देख न लें नयन, डूब न, जय जय चांद ॥

अध्याय 122. स्वप्नावस्था का वर्णन

1211 प्रियतम का जो दूत बन, आया स्वप्नाकार ।उसका मैं कैसे करूँ, युग्य अतिथि-सत्कार ॥
1212 यदि सुन मेरी प्रार्थना, दृग हों निद्रावान ।दुख सह बचने की कथा, प्रिय से कहूँ बखान ॥
1213 जाग्रत रहने पर कृपा, करते नहीं सुजान ।दर्शन देते स्वप्न में, तब तो रखती प्राण ॥
1214 जाग्रति में करते नहीं, नाथ कृपा कर योग ।खोज स्वप्न ने ला दिया, सो उसमें सुख-भोग ॥
1215 आँखों में जब तक रहे, जाग्रति में सुख-भोग ।सपने में भी सुख रहा, जब तक दर्शन-योग ॥
1216 यदि न रहे यह जागरण, तो मेरे प्रिय नाथ ।जो आते हैं स्वप्न में, छोड़ न जावें साथ ॥
1217 कृपा न कर जागरण में, निष्ठुर रहे सुजन ।पीड़ित करते किसलिये, मुझे स्वप्न में प्राण ॥
1218 गले लगाते नींद में, पर जब पडती जाग ।तब दिल के अन्दर सुजन, झट जाते हैं भाग ॥
1219 जाग्रति में अप्राप्त को, कोसेंगी वे वाम ।जिनके प्रिय ने स्वप्न में, मिल न दिया आराम ॥
1220 यों कहते प्रिय का मुझे, जाग्रति में नहिं योग ।सपने में ना देखते, क्या इस पुर के लोग ॥

अध्याय 123.संध्या दर्शन से

1221 तेरी, सांझ, चिरायु हो, तू नहिं संध्याकाल ।ब्याह हुओं की जान तू, लेता अन्तिम काल ।
1222 तेरी, सांझ, चिरायु हो, तू निष्प्रभ विभ्रान्त ।मेरे प्रिय के सम निठुर, है क्या तेरा कान्त ॥

downloaded from www.pmlogy.com

1223 कंपित संध्या निष्प्रभा, मुझको बना विरक्त ।आती है देती मुझे, पीड़ा अति ही सख्त ॥
1224 वध करने के स्थान में, ज्यों आते जल्लाद ।त्यों आती है सांझ भी, जब रहते नहिं नाथ ॥
1225 मैंने क्या कुछ कर दिया, प्रातः का उपकार ।वैसे तो क्या कर दिया, संध्या का उपकार ॥
1226 पीड़ित करना सांझ का, तब था मुझे न ज्ञात ।गये नहीं थे बिछुड़कर, जब मेरे प्रिय नाथ ॥
1227 काम-रोग तो सुबह को, पा कर कली-लिवास ।दिन भर मुकुलित, शाम को, पाता पुष्प-विकास ॥
1228 दूत बनी है सांझ का, जो है अनल समान ।गोप-बाँसुरी है, वही, घातक भी सामान ॥
1229 जब आवेगी सांझ बढ़, करके मति को घूर्ण ।सारा पुर मति-घूर्ण हो, दुख से होवे चूर्ण ॥
1230 भ्रांतिमती इस सांझ में, अब तक बचती जान ।धन-ग्राहक का स्मरण कर, चली जायगी जान ॥

अध्याय 124. अंगच्छवि-नाश

1231 प्रिय की स्मृति में जो तुझे, दुख दे गये सुदूर ।रोते नयन सुमन निरख, लज्जित हैं बेनूर ॥
1232 पीले पड़ कर जो नयन, बरस रहे हैं नीर ।मानों कहते निठुरता, प्रिय की जो बेपीर ॥
1233 जो कंधे फूल रहे, जब था प्रिय-संयोग ।मानों करते घोषणा, अब है दुसह वियोग ॥
1234 स्वर्ण वलय जाते खिसक, कृश हैं कंधे पीन ।प्रिय-वियोग से पूर्व की, छवि से हैं वे हीन ॥
1235 वलय सहित सौन्दर्य भी, जिन कंधों को नष्ट ।निष्ठुर के नैष्ठुर्य को, वे कहते हैं स्पष्ट ॥
1236 स्कंध शिथिल चूड़ी सहित, देख मुझे जो आप ।कहती हैं उनको निठुर, उससे पाती ताप ॥
1237 यह आक्रान्दन स्कंध का, जो होता है क्षाम ।सुना निठुर को रे हृदय, पाओ क्यों न सुनाम ॥
1238 आलिंगन के पाश से, शिथिल किये जब हाथ ।तत्क्षण पीला पड गया, सुकुमारी का माथ ॥
1239 ज़रा हवा जब घुस गयी, आलिंगन के मध्य ।मुग्धा के पीले पड़े, शीत बड़े दृग सद्य ॥
1240 उज्ज्वल माथे से जनित, पीलापन को देख ।पीलापन को नेत्र के, हुआ दुःख-अतिरेक ॥

अध्याय 125. हृदय से कथन

1241 रोग-शमन हित रे हृदय, जो यह हुआ असाध्य ।क्या न कहोगे सोच कर, कोई औषध साध्य ॥
1242 हृदय ! जिओ तुम, नाथ तो, करते हैं नहिं प्यार ।पर तुम होते हो व्यथित, यह मूढ़ता अपार ॥
1243 रे दिल ! बैठे स्मरण कर, क्यों हो दुख में चूर ।दुःख-रोग के जनक से, स्नेह-स्मरण है दूर ॥
1244 नेत्रों को भी ले चलो, अरे हृदय, यह जान ।उनके दर्शन के लिये, खाते मेरी जान ॥
1245 यद्यपि हम अनुरक्त हैं, वे हैं नहिं अनुरक्त ।रे दिल, यों निर्मम समझ, हो सकते क्या त्यक्त ॥
1246 जब प्रिय देते मिलन सुख, गया नहीं तू रूठ ।दिल, तू जो अब क्रुद्ध है, वह है केवल झूठ ॥
1247 अरे सुदिल, तज काम को, या लज्जा को त्याग ।मैं तो सह सकती नहीं, इन दोनों की आग ॥
1248 रे मेरे दिल, यों समझ, नहीं दयार्द्र सुजान ।बिछुड़े के पीछे लगा, चिन्ताग्रस्त अजान ॥
1249 तेरे अन्दर जब रहा, प्रियतम का आवास ।रे दिल, उनका स्मरण कर, जावे किसके पास ॥
1250 फिर न मिले यों तज दिया, उनको दिल में ठौर ।देने से मैं खो रही, अभ्यन्तर छवि और ॥

अध्याय 126. धैर्य-भंग

1251 लाज-चटखनी युक्त है, मनोधैर्य का द्वार ।खंडन करना है उसे, यह जो काम-कुठार ॥
1252 काम एक निर्दय रहा, जो दिल पर कर राज ।अर्द्ध रात्रि के समय भी, करवाता है काज ॥
1253 काम छिपाने यत्न तो, मैं करती हूँ जान ।प्रकट हुआ निर्देश बिन, वह तो छींक समान ॥
1254 कहती थी 'हूँ धृतिमती', पर मम काम अपार ।प्रकट सभी पर अब हुआ, गोपनीयता पार ॥
1255 उनके पीछे जा लगें, जो तज गये सुजान ।काम-रोगिणी को नहीं, इस बहुमति का ज्ञान ॥
1256 उनके पीछे लग रहूँ, चले गये जो त्याग ।काम-रोग को यों दिया, यह मेरा बड़भाग ॥
1257 करते ये प्रिय नाथ जब, कामेच्छित सब काज ।तब यह ज्ञात न था हमें, एक वस्तु है लाज ॥
1258 बहुमायामय चोर के, जो हैं नयमय बैन ।मेरी धृति को तोड़ने, क्या होते नहिं सैन ॥
1259 चली गई मैं रूठने, किन्तु हृदय को देख ।वह प्रवृत्त है मिलन हित, गले लगी, हो एक ॥
1260 अग्नि-दत्त मज्जा यथा, जिनका दिल द्रवमान ।उनको प्रिय के पास रह, क्या संभव है मान ॥

अध्याय 127. उनकी उत्कंठा

1261 छू कर गिनते विरह दिन, घिस अंगुलियाँ क्षीण ।तथा नेत्र भी हो गये, राह देख छवि-हीन ॥
1262 उज्ज्वल भूषण सज्जिते ! यदि मैं भूलूँ आज ।गिरें बाँह से चुड़ियाँ, औ' खोऊँ छवि-साज ॥
1263 विजय-कामना से चले, साथ लिये उत्साह ।सो अब भी जीती रही, 'लौटेंगे' यों चाह ॥
1264 प्रेम सहित हैं लौटते, बिछुड़ गये जो नाथ ।उमड़ रहा यों सोच कर, हृदय खुशी के साथ ॥
1265 प्रियतम को मैं देख लूँ, आँखों से भरपूर ।फिर पीलापन स्कंध का, हो जायेगा दूर ॥
1266 प्रिय आवें तो एक दिन,यों कर लूँ रसपान ।जिससे पूरा ही मिटे, दुःखद रोग निदान ॥
1267 नेत्र सदृश प्रिय आ मिलें, तो कर बैठूँ मान ?या आलिंगन ही करूँ, या दोनों, हे प्राण ॥
1268 क्रियाशील हो युद्ध कर, राजा पावें जीत ।सपत्नीक हम भोज दें, संध्या हित सप्रीत ॥

downloaded from www.pmlogy.com

1269 जिसे प्रवासी पुरुष के, प्रत्यागम का सोच ।एक रोज़ है सात सम, लंबा होता रोज़ ॥
1270 प्राप्य हुई या प्राप्त ही, या हो भी संयोग ।हृदय भग्न हो चल बसी, तो क्या हो उपयोग ॥

अध्याय 128. इंगित से बोध

1271 रखने पर भी कर छिपा, मर्यादा को पार ।हैं तेरे ही नेत्र कुछ, कहने का तैयार ॥
1272 छवि भरती है आँख भर, बाँस सदृश हैं स्कंध ।मुग्धा में है मूढ़ता, नारी-सुलभ अमंद ॥
1273 अन्दर से ज्यों दीखता, माला-मणि में सूत ।बाला छवि में दीखता, कुछ संकेत प्रसूत ॥
1274 बद कली में गंध ज्यों, रहती है हो बंद ।त्यों इंगित इक बंद है, मुग्धा-स्मिति में मंद ॥
1275 बाला ने, चूड़ी-सजी, मुझसे किया दुराव ।दुःख निवारक इक दवा, रखता है वह हाव ॥
1276 दे कर अतिशय मिलन सुख, देना दुःख निवार ।स्मारक भावी विरह का, औ' निष्प्रिय व्यवहार ॥
1277 नायक शीतल घाट का, बिछुड़ जाय यह बात ।मेरे पहले हो गयी, इन वलयों को ज्ञात ॥
1278 कल ही गये वियुक्त कर, मेरे प्यारे नाथ ।पीलापन तन को लिये, बीत गये दिन सात ॥
1279 वलय देख फिर स्कंध भी, तथा देख निज पाँव ।यों उसने इंगित किया, साथ गमन का भाव ॥
1280 काम-रोग को प्रगट कर, नयनों से कर सैन ।याचन करना तो रहा, स्त्रीत्व-लब्ध गुण स्त्रैण ॥

अध्याय 129. मिलन-उत्कंठा

1281 मुद होना स्मृति मात्र से, दर्शन से उल्लास ।ये गुण नहीं शराब में, रहे काम के पास ॥
1282 यदि आवेगा काम तो, बढ़ कर ताड़ समान ।तिल भर भी नहिं चाहिये, करना प्रिय से मान ॥
1283 यद्यपि मनमानी करें, बिन आदर की सैन ।प्रियतम को देखे बिना, नयनों को नहिं चैन ॥
1284 गयी रूठने री सखी, करके मान-विचार ।मेरा दिल वह भूल कर, मिलने को तैयार ॥

1285 कूँची को नहिं देखते, यथा आंजते अक्ष ।उनकी भूल न देखती, जब हैं नाथ समक्ष ॥
1286 जब प्रिय को मैं देखती, नहीं देखती दोष ।ना देखूँ तो देखती, कुछ न छोड़ कर दोष ॥
1287 कूदे यथा प्रवाह में, बाढ़ बहाती जान ।निष्फलता को जान कर, क्या हो करते मान ॥
1288 निन्दाप्रद दुख क्यों न दे, मद्यप को ज्यों पान ।त्यों है, वंचक रे, हमें, तेरी छाती जान ॥
1289 मृदुतर हो कर सुमन से, जो रहता है काम ।बिरले जन को प्राप्त है, उसका शुभ परिणाम ॥
1290 उत्कंठित मुझसे अधिक, रही मिलन हित बाल ।मान दिखा कर नयन से, गले लगी तत्काल ॥

अध्याय 130. हृदय से रूठना

1291 उनका दिल उनका रहा, देते उनका साथ ।उसे देख भी, हृदय तू, क्यों नहिं मेरे साथ ॥
1292 प्रिय को निर्मम देख भी, 'वे नहिं हो नाराज़' ।यों विचार कर तू चला, रे दिल, उनके पास ॥
1293 रे दिल, जो हैं कष्ट में, उनके हैं नहिं इष्ट ।सो क्या उनका पिछलगा, बना यथा निज इष्ट ॥
1294 रे दिल तू तो रूठ कर, बाद न ले सुख-स्वाद ।तुझसे कौन करे अभी, तत्सम्बन्धी बात ॥
1295 न मिल तो भय, या मिले, तो भेतव्य वियोग ।मेरा दिल है चिर दुखी, वियोग या संयोग ॥
1296 विरह दशा में अलग रह, जब करती थी याद ।मानों मेरा दिल मुझे, खाता था रह साथ ॥
1297 मूढ हृदय बहुमति रहित, नहीं भूलता नाथ ।मैं भूली निज लाज भी, पड़ कर इसके साथ ॥
1298 नाथ-उपेक्षा निंद्य है, यों करके सुविचार ।करता उनका गुण-स्मरण, यह दिल जीवन-प्यार ॥
1299 संकट होने पर मदद, कौन करेगा हाय ।जब कि निजी दिल आपना, करता नहीं सहाय ॥
1300 बन्धु बनें नहिं अन्य जन, है यह सहज, विचार ।जब अपना दिल ही नहीं, बनता नातेदार ॥

अध्याय 131. मान

1301 आलिंगन करना नहीं, ठहरो करके मान ।देखें हम उनको ज़रा, सहते ताप अमान ॥
1302 ज्यों भोजन में नमक हो, प्रणय-कलह त्यों जान ।ज़रा बढ़ाओ तो उसे, ज्यादा नमक समान ॥
1303 अगर मना कर ना मिलो, जो करती है मान ।तो वह, दुखिया को यथा, देना दुख महान ॥
1304 उसे मनाया यदि नहीं, जो कर बैठी मान ।सूखी वल्ली का यथा, मूल काटना जान ॥
1305 कुसुम-नेत्रयुत प्रियतमा, रूठे अगर यथेष्ट ।शोभा देती सुजन को, जिनके गुण हैं श्रेष्ठ ॥
1306 प्रणय-कलह यदि नहिं हुआ, और न थोड़ा मान ।कच्चा या अति पक्व सम, काम-भोग-फल जान ॥
1307 'क्या न बढ़ेगा मिलन-सुख', यों है शंका-भाव ।प्रणय-कलह में इसलिये, रहता दुखद स्वभाव ॥
1308 'पीड़ित है' यों समझती, प्रिया नहीं रह जाय ।तो सहने से वेदना, क्या ही फल हो जाय ॥
1309 छाया के नीचे रहा, तो है सुमधुर नीर ।प्रिय से हो तो मधुर है, प्रणय कलह-तासीर ॥
1310 सूख गयी जो मान से, और रही बिन छोह ।मिलनेच्छा उससे रहा, मेरे दिल का मोह ॥

अध्याय 132. मान की सूक्ष्मता

1311 सभी स्त्रियाँ सम भाव से, करतीं दृग से भोग ।रे विट् तेरे वक्ष से, मैं न करूँ संयोग ॥
1312 हम बैठी थीं मान कर, छींक गये तब नाथ ।यों विचार 'चिर जीव' कह, हम कर लेंगी बात ॥
1313 धरूँ डाल का फूल तो, यों होती नाराज़ ।दर्शनार्थ औ' नारि से, करते हैं यह साज ॥

downloaded from www.pmlogy.com

1314 'सब से बढ़', मैंने कहा, 'हम करते हैं प्यार' ।'किस किस से' कहती हुई, लगी रुठने यार ॥
1315 यों कहने पर- हम नहीं, 'बिछुड़ेंगे इस जन्म' ।भर लायी दृग, सोच यह, क्या हो अगले जन्म ॥
1316 'स्मरण किया' मैंने कहा, तो क्यों बैठे भूल ।यों कह मिले बिना रही, पकड़ मान का तूल ॥
1317 छींका तो, कह शुभ वचन, तभी बदल दी बात ।'कौन स्मरण कर छींक दी', कह रोयी सविषाद ॥
1318 छींक दबाता मैं रहा, रोयी कह यह बैन ।अपनी जो करती स्मरण, उसे छिपाते हैं न ॥
1319 अगर मनाऊँ तो सही, यों कह होती रुष्ट ।करते होंगे अन्य को, इसी तरह से तुष्ट ॥
1320 देखूँ यदि मैं मुग्ध हो, यों कह करती रार ।देख रहे हैं आप सब, दिल में किसे विचार ॥

अध्याय 133. मान का आनन्द

1321 यद्यपि उनकी भूल नहिं, उनका प्रणय-विधान ।प्रेरित करता है मुझे, करने के हित मान ॥
1322 मान जनित लघु दुःख से, यद्यपि प्रिय का प्रेम ।मुरझा जाता है ज़रा, फिर भी पाता क्षेम ॥
1323 मिट्टी-पानी मिलन सम, जिस प्रिय का संपर्क ।उनसे होते कलह से, बढ़ कर है क्या स्वर्ग ॥
1324 मिलन साध्य कर, बिछुड़ने, देता नहिं जो मान ।उससे आविर्भूत हो, हृत्स्फोटक सामान ॥
1325 यद्यपि प्रिय निर्दोष है, मृदुल प्रिया का स्कंध ।छूट रहे जब मिलन से, तब है इक आनन्द ॥
1326 खाने से, खाया हुआ, पचना सुखकर जान ।काम-भोग हित मिलन से, अधिक सुखद है मान ॥
1327 प्रणय-कलह में जो विजित, उसे रहा जय योग ।वह तो जाना जायगा, जब होगा संयोग ॥
1328 स्वेद-जनक सुललाट पर, मिलन जन्य आनन्द ।प्रणय-कलह कर क्या मिले, फिर वह हमें अमन्द ॥
1329 रत्नाभरण सजी प्रिया, करे और भी मान ।करें मनौती हम यथा, बढ़े रात्रि का मान ॥
1330 रहा काम का मधुर रस, प्रणय-कलह अवगाह ।फिर उसका है मधुर रस, मधुर मिलन सोत्साह ॥

Millions thanks to that unknown Atma who translated this wonderful Tamil literature in Hindi. शत शत वन्दन।
If somebody tells me the name of translator, I will be more than happy to include his name here.

Statue of Bhawan Thiruvalluvar at Kanyakumari, Tamilnadu

downloaded from www.pmlogy.com